UNIVERSAL LIBRARY
OU_182159
UNIVERSAL LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H301.15 G49S Accession No. H391

Author गिन्सबर्ग, मारिस

Title सामाजिक मनोविज्ञान - 19

This book should be returned on or before the date last marked below.

सामाजिक मनोविज्ञान

सामाजिक मनोविज्ञान

Post Graduate Library
College of Arts & Commerce. O. U

लेखक
मॉरिस गिन्सबर्ग

अनुवादिका
श्रीमती सुमित्रा भार्गव

लखनऊ
अशोक प्रकाशन
१९५५

प्रथम हिन्दी संस्करण १९५५

सर्वाधिकार स्वरक्षित

साहित्य मन्दिर प्रेस, लखनऊ ने मुद्रण किया।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
शब्दकोष	...	७
भूमिका	...	१
१. मूलप्रवृति की सामान्य प्रकृति	...	११
२. समाज में मूलप्रवृति	...	२५
३. विवेक और इच्छा का कार्य	...	४४
४. सामाजिक या सामूहिक मस्तिष्क का सिद्धान्त	...	५६
५. सामान्येच्छा का प्रत्यग	...	७६
६. मूलवंशीय और राष्ट्रीय विशेषताएं	...	१०४
७. रूढ़	...	११३
८. जाति, मंडल और संस्थाएं	...	१२६
९. भीड़ का मनोविज्ञान	...	१३७
१०. जनता और जनमत	...	१४६
११. संगठन और प्रजातंत्र का मनोविज्ञान	...	१६०
१२. उपसंहार	...	१७४

शब्दकोष

Abstract	अमूर्त्त
Abstraction	प्रथक्करण
Acquired	उपार्जित
Actual	यथार्थ
Adjustment	व्यवस्था
Affective	रागात्मक
Afferent	अन्तर्गामी
Aggregate	समुदाय
Alligiance	निष्ठा
Analysis	विश्लेषण
Anger	क्रोध
Anthropology	मानवशास्त्र
Antithesis	अर्थविपरीतता
Apathy	अनुभव शून्यता
Appeal	अपील, प्रभावित करना
Appercipient	पूर्वानुवर्ती ज्ञान सम्बन्धी
Architecture	शिल्पविद्या
Assimilation	समीकरण
Association	मंडल
Assumption	अनुमान, कल्पना
Atomism	परिमाणुवाद
Attention	अवधान
Authority	प्रभुत्व, अधिकार
Autocracy	निरंकुश शासन
Awareness	सचेतता
Balance	सन्तुलन
Biology	प्राणि विद्या
Cell	सेल
Chance	दैवयोग
Character	चरित्र, प्रकृति
Characteristic	विशेषता
Code of honour	मर्यादा शास्त्र
Codes	नियमसंहिता
Cognitive	ज्ञानात्मक
Collective	सामूहिक
Common	साधारण
Communication	संचार
Community	जाति, साम्य
Complex	जटिल
Comprehension	समझ
Conative	क्रियात्मक
Concept	सम्बोध
Conception	सम्बोधना
Conduct	आचरण
Conscience	चेतना
Concrete	स्थूल साचार
Conscious	चेतन
Conservative	स्थितिपालक
Constructiveness	रचना-वृत्ति
Contents	विषय सामग्री, अन्तर्गत तत्व
Convention	आचारविधि

Conviction प्रतीति
Core वस्तुका हृदय या अन्तभोग
Craniomity मस्तिष्क विज्ञान
Craving लालसा
Crowd भीड़
Curiosity उत्सुकता
Custom आचार

Data प्रदत्त
Demagogue प्रजानायक
Derivative तद्भव
Desire अभिलाषा
Determind निर्धारित, निश्चत
Dictation अनन्य शासक
Differential विशेषक
Disgust घृणा
Disharmoney प्रतिरूपता
Disposition स्वभाव, प्रकृति

Economics अर्थ-शास्त्र
Egoist आत्मश्लाघी
Elation गर्व
Element तत्व
Embodiment मूर्तिमत्ता
Emotion संवेग
Emotional संवेगशील
Empirical प्रयोगसिद्ध
Enlightened व्युत्पन्न
Entity सत्ता
Espirit de corps समूह भावना
Ethics आचार नीति
Ethnology नृवंश विद्या

Evolution क्रमकि उन्नति
Excitement उत्तेजन
Evolution theory of परिणामवाद
Exhaust श्रान्त
Experiment प्रयोग, परीक्षण
Exponent व्याख्याता
Exposition विवरण

Faculty आन्तिरिक शक्ति
Fallacy भ्रान्ति
Feeling भावना
Flight, instinct of पलायन मूलप्रवृत्ति
Folk लोक
Folk Psychology लोक मनोविज्ञान

General सामान्य
Generalization सामान्य अनुमान
Gregariousness सामूहिकता
Group समूह
Group Psychology समूह मनोविज्ञान

Habit आदत
Herd झुंड
Hereditary पैतृक
Heredity परम्परा
Homogeneity सजातीयता
Hypothesis अनुमान

Idea	विचार
Ideal	आदर्श
Idealist	आदर्शवादी
Image	प्रतिमा
Imagination	कल्पना
Imitation	अनुकरण
Imitative	अनुकारी
Immoral	दुराचारी
Impersonal	अकर्तृक
Impulse	आवेग
Impulsive	आवेगशील
Individual	व्यक्ति
Individuality	व्यक्तित्व
Induction	आगमन
Inductive	आगमनकारी
Inductively	आगमन रूपसे
Inference	अनुमान
Inhibition	निग्रह
Initiative	आरम्भिक
Innate	सहज
Instinct	मूलप्रवृत्ति
Instructive	मूलप्रवृत्तिशील
Institution	संस्था
Integration	एकीकरण
Intelligence	बुद्धि
Intellectualism	बुद्धिवाद
Interaction	अन्त:क्रिया
Inter communication	अन्त:संचार
Interdependent	अन्योन्य-पाश्रित
Interrelation	अन्त:सम्बन्ध
Introspection	अन्तरावलोकन
Involuntary	अनैच्छिक
Jurisprudence	धर्मशास्त्र
Kinetics	गति सम्बन्धी
Law	विधि
Legacy	बपौती
Legal	वैध, विधि सम्बन्धी
Legislator	विधायक
Logic	तर्क
Logical	तार्किक
Manners	आचार व्यवहार
Material	मातृक
Matter	विषय
Mechanical	यांत्रिक
Mechanics	यंत्रकला
Metaphysics	अध्यात्मक विद्या
Method	विधि
Migratory impulse	भ्रमण आवेग
Milieu	वातावरण
Mob	झुंड
Mode	विधि, रीति
Moral	नैतिक
Morality	नीति
Motive	प्रेरक
Motor	गति सम्बन्धी
Movement	आन्दोलन, गति
Multiple	अपवर्त्य
Muses	विद्या और संगीतकी नौ देवियां

Mutation परिवर्तन
Mythology पौराणिक कथा

Nervous system नाड़ी मंडल

Object कर्म, उद्देश्य
Obligation बन्धन
Obligarchy अल्पजन शासन
Opinion मत
Organic चेतनायुक्त, आंगिक
Organism जीवधारी
Origin उद्गम, मूल
Origination आदि रचना

Parental instinct पुत्र कामना मूलप्रवृत्ति
Parliament संसद्
People लोग राष्ट्रवासी
Percept प्रत्यक्ष
Perception प्रत्यक्षीकरण
Persistent आग्रहयुक्त
Phenomenon प्रमेय
Philology भाषा विज्ञान
Philosophy दर्शन
Physical स्थूल, भौतिक
Physiology शरीर विज्ञान
Potential सम्भाव्य
Potentiality सम्भाव्यता
Predicate विधेय
Presentation प्रदर्शन
Prestige प्रतिष्ठा
Prevision पूर्वदृष्टि
Primitive प्राथमिक, प्राचीन, आदिम निवासी

Primary प्रारम्भिक
Principle नियम, सिद्धान्त
Process प्रणाली
Propensities रुझान
Prototype मूलप्रतिमा
Psychical आत्मिक
Psycho analysis मनोविश्लेषण
Psycho-pathology मनश्चिकित्सा
Psychology मनोविज्ञान
Public जनता
Publicity सामाजिकता, लोकप्रसिद्धि
Public opinion जनमत
Pugnacity युयुत्सा
Purpose प्रयोजन
Purposeful प्रयोजनमय

Race मूलवंश
Racial मूलवंशका मूलवंशीय
Rational विवेक, विवेकमय
Reaction प्रतिक्रिया
Real वास्तविक
Reality वास्तविकता
Realization सिद्धि
Reason विवेक
Recent हालका
Record लेख प्रमाण
Reflex प्रतिक्षेप
Reflex action प्रतिक्षेप क्रिया
Repetition पुनरावृत्ति
Repression निरोध

Repulsion निवृत्ति

Sanctioned आज्ञिप्त
Schorl साम्प्रदाय
Self स्वयं, आत्मा
Self abasement दैन्यवृत्ति
Self assertion आत्मगारव
Self display आत्म प्रदर्शन
Self preservation आत्मरक्षा
Sensation संवेदन
Sense इन्द्रिय, अर्थ, ज्ञान
Sensitive शीघ्र
Sensitiveness शीघ्रबोध
Sensori-motor ज्ञानगति सम्बन्धी
Sentiment स्थायी भाव
Series श्रेणी
Soul आत्मा
Society समाज
Sociology समाज विज्ञान
Sovereignty प्रभुत्व
Specific विशिष्ट
Spirit भावना, आत्मा
Spiritual आध्यात्मक
Statement कथन
Stimulant उत्तेजक
Stimulus उत्तेजना
Structure निर्माण, रचना
Subjection अधीनता
Suggestion संकेत
Suggestibility संकेत योग्यता
Suggestible संकेत योग्य
Suppression अवरोध
Survival अतिजीवन
Synthesis संयोग
System पद्धति

Teleology मीमांसा
Tender emotion वात्सल्प संवेग
Tension खिचाव, तनाव
Tendncy प्रवृत्ति
Term Tradition पद्र रूढ़ि
Transference स्थानान्तर
Trial and Error प्रयत्न और भूल
Transform रूपान्तर
Totality समष्टि

Ultimate चरम
Unconscious अचेतन
Uniform एक रूप
Unitary ऐकिक
Unity एकता
Ultilitarianism लाभ सिद्धान्त

Volition इच्छा कार्य
Volkslied लोक-आत्मा लोगों की आत्मा
Voluntary ऐच्छिक

Will इच्छा
Wonder आश्चर्य
Worker कर्मचारी, श्रमजीवी

भूमिका

सामाजिक और राजनीतिक समस्या पर विचार करनेका आधार मनोवैज्ञानिक होगा, चेतन या अचेतन। सबसे अधिक महत्वकी बात यह है कि हमारा तात्पर्य क्रियाके विभिन्न क्षेत्रोंमें यथार्थ मनुष्य व्यवहारके वर्णन या विश्लेषण से है, अथवा आदर्शों या सिद्धान्तोंकी उस समस्यासे जिसका मनुष्यको अनुसरण करना चाहिए, मानुषिक सम्भाव्यताओंके ज्ञानसे, उसके सहज और उपार्जित साधनोंकी प्रकृतिकी, तथा जीवन और आचरणकी प्रेरक शक्तियोंकी समस्यासे है। जैसा कि हम यथार्थमें देखते हैं कि राजनीति, अर्थशास्त्र, आचारनीति आदिके लेखक जिन्हें मनुष्य प्रकृतिकी विधियां कहते हैं उनके सम्बन्धमें कुछ अनुमानोंसे प्रारम्भ करते हैं। जैसे हॉब्स (Hobbes) का राजनीतिक सिद्धान्त इस अनुमान पर आश्रित है कि मनुष्य आत्मश्लाघी आवेगोंके द्वारा कार्य करनेको बढ़ाया जाता है और आज्ञाका आधार भय है, सर हेनरी मेन (Henry Maine) जैसे लेखक आदतको आधार मानते हैं और अन्य लेखक विवेकमय स्वीकृति को। राजनीति और आचारनीतिका लाभ-सिद्धान्त (utilitarian) सम्प्रदाय कुछ मनोवैज्ञानिक अनुमानों पर आश्रित था, यद्यपि उस सम्प्रदायके सब सदस्योंने समान मात्रामें उनको चेतन रूपसे नहीं समझा था, जैसे यह कि उद्देश्योंका एक चेतन अनुसरण मनुष्यके कार्यका नितान्त मार्ग दर्शक होता है, और कार्यका अकेला प्रेरक आनन्दकी प्राप्ति और दुःखका त्याग होता है, और आनन्दोंका योग और सुख एक ही बात है। यह समान मनोवैज्ञानिक अनुमान अर्थशास्त्रके व्यक्तिवादी सम्प्रदायके आधार पर भी है। फिर सामाजिक बातोंके मनुष्य प्रकृतिकी विधि माने जानेवालेके सन्दर्भसे अधिक प्रचलित विचार कोई नहीं है। मनुष्य प्रकृति जो भी है, यह बहुधा माना जाता है कि युद्ध अनिवार्य हैं। अन्य तर्क करते हैं कि जब तक मनुष्य प्रकृति नहीं बदलती समाजवाद बिल्कुल असाध्य है और उद्योगमें आरम्भिक (initiative) तथा शक्ति प्राप्त करनेकी विधि केवल प्रतियोगिता है। इस

सम्बन्धमें एक बहुत साधारण मत है मनुष्य प्रकृतिकी नित्यता, जो कि किसी भी नए प्रस्तावके विरुद्ध सदैव रख दी जाती है। कोई कल्पना कर सकता है कि हमारे पास मनुष्य चरित्र और आचरणका विज्ञान है जिसके कारण हम निश्चयसे यह कह सकते हैं कि मनुष्य व्यवहारके द्वारा क्या प्राप्त हो सकता है और क्या नहीं, परन्तु सच तो यह है कि ऐसा विज्ञान अभी अपने शैशव कालमें है और मुश्किलसे अभी प्रयोगसिद्ध सामान्य अनुमानोंकी असम अवस्थाके परे तक पहुंचा है।

राजनीतिक और सामाजिक मामलोंमें क्रियाशील मनोवैज्ञानिक बातों के ज्ञानके स्पष्ट महत्वके होने पर भी सामाजिक सिद्धान्तमें मनोवैज्ञानिक नियमोंका चेतन सम्बन्ध या बल्कि एक सामाजिक मनोविज्ञानको बनाना एक हालकी उत्पत्ति है। यह आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दीके लगभग पिछले अर्द्धांशमें प्रारम्भ हुआ और अत्यधिक जटिल है। यहां उन विभिन्न तत्वों को सुलझानेका कोई प्रयत्न नहीं किया जाएगा जिन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोणके अनुकूल वातावरण बनानेमें सहायता दी, परन्तु निम्न भागोंको पृथक् किया जा सकता है।

१. पहले तो, हीगेल के दर्शन ने (philosophy) एक विभिन्न प्रकारसे, कॉम्टी (Comte) के काम ने, आध्यात्मिक प्रकाशन या प्रदर्शन की भांति मनुष्य जाति सम्बन्धी धारणाको, और हीगेल ने विश्व-आत्मा की मूर्तिमत्ता या उत्पत्तिकी भांति लोगोंकी आत्मा लोक आत्मा (volks-geist) को प्रारम्भ किया। एक राष्ट्रीय मस्तिष्क या आत्माका यह विचार मनोवैज्ञानिकसे कार्यान्वित नहीं किया गया था, वरन् वास्तवमें एक आध्या-त्मिक विचार था, यद्यपि हीगेल की पुस्तकमें काफ़ी मनोवैज्ञानिक रुचि दिखाई पड़ती है। हीगेल सम्बन्धी आन्दोलनका महत्व इसलिए है कि यह राष्ट्रके उस रहस्यमय और आश्चर्यपूर्ण विचारके अनुकूल हुआ तथा इसने उसको प्रेरित किया जिसका प्रभाव बहुतसी दिशाओंमें साहित्य और कलाके क्षेत्रमें भी तथा विधि और भाषा और पौराणिक कथा तथा आचारके क्षेत्रमें भी मिलता है। जैसे एक उदाहरण ले लो, सेविग्नी (Savigny) द्वारा स्थापित धर्मशास्त्र (jurisprudence) का ऐतिहासिक कहलाने वाला सम्प्रदाय स्पष्ट है कि हीगेल के विचारोंसे प्रभावित था, क्योंकि इसके

अनुसार विधि चेतन बुद्धि और इच्छाकी उत्पत्ति नहीं है, वरन् लोगोंकी अत्माका प्राकृतिक उत्पत्ति या प्रदर्शन है। राष्ट्रीय आत्माका यह विचार, बहुत अस्पष्ट और मन्द रहा, और ऐतिहासिक धर्मशास्त्रके क्षेत्रमें सफल परिणामों वाला रहा, यह नहीं कहा जा सकता।

जिन पुस्तकोंका सम्बन्ध हीगेल से नहीं था वह लज़ारस (Lazarus) और स्टाइंथाल (Steinthal) की थी, जिनको बहुधा सामाजिक मनोविज्ञान के संस्थापक कहा जाता है, और जिन्होंने लोक मनोविज्ञान तथा भाषा विज्ञान के अध्ययनके लिए एक पत्र स्थापित किया जिसमें उन्होंने एक बड़ा भारी कार्यक्रम बनाया। उनका सामाजिक मनोविज्ञानका विचार रोचक है और सारभूत बातोंमें डा० मैक्डयूगलसे भिन्न नहीं मालूम होता। लज़ारस कहते हैं कि "लोक-मनोविज्ञानका कर्त्तव्य उन विधियोंको ढूंढना है जो जहां कहीं भी बहुतसे लोग एक साथ रहते और कार्य करते हैं वहीं क्रियाशील हो जाती हैं।" इसका कार्य लोगोंके सम्पूर्ण जीवनका वह वैज्ञानिक वर्णन देना है जैसा कि उनकी भाषा, कला, धर्म, आचरणमें दिखाई पड़ता है और सबसे अधिक जो परिवर्तन लोगोंके मस्तिष्कोंमें होते हैं उनको क्रमिक उन्नति और ह्राससे व्यवहार करना है। कार्यविधि बिल्कुल अनुभव और निरीक्षण पर आश्रित होनी थी अर्थात् प्रत्यक्ष निरीक्षणों तथा उन तथ्योंकी परीक्षा पर आश्रित होनी थी जो नृवंशविद्या (ethnology) तथा मनुष्य जोवनके अन्य विज्ञानोंके द्वारा दिए गए हैं। लोक मनोविज्ञानके दो भाग होने थे, एक उस सामान्य नियमोंसे व्यवहार करने वाला जो सब समूहों या लोगोंमें साधारण प्रमेयोंके आधारमें हैं, और दूसरा, जिसे वह मनोवैज्ञानिक नृवंश-विद्या कहते हैं, जिसका सम्बन्ध लोगों और समूहोंकी मनोवैज्ञानिक विचित्रताओंसे है। (इसके साथ मैक्ड्यूगलके निम्नलिखित कथनकी तुलना की जा सकती है: "समूह-मनोविज्ञानके ठीकसे दो भाग हैं, एक वह जिसका सम्बन्ध सामूहिक जीवनके सबसे सामान्य नियमोंको ढूंढना है और दूसरा वह जो इन नियमोंको विशेष प्रकारके और सामूहिक जीवनके उदाहरणोंके अध्ययनमें कार्यान्वित करता है।"—"The Group Mind," p. 6)। लज़ारस और स्टाइंथाल के कामका महत्व आंकना कठिन है। सामाजिक मस्तिष्ककी प्रकृतिके सम्बन्धमें विवादका निषेध करनेके अतिरिक्त (जिसमें

वह दो भौतिक रूपसे बेमेल सिद्धान्तोंको एक पद्धतिके अन्दर लानेकी कठिनाईमें परिश्रम करते हुए मालूम होते हैं, अर्थात् हर्बार्ट (Herbart) का मनोविज्ञान और हीगेल की अध्यात्म विद्या), उनका यथार्थ काम शुद्ध सामाजिक मनोविज्ञानकी अपेक्षा विस्तृत भाषा विज्ञानके क्षेत्रमें है। किसी भी स्थितिमें उन पर किसी प्रभावका आरोपण करना जिसका प्रत्यक्ष पता लगाया जा सकता है, कठिन है।

विल्हेम वुंट (Wilhelm Wundt) के बहुत महत्वशाली कार्यको भी संकेत कर सकते हैं। जिन्हें जर्मनीमें सामाजिक मनोविज्ञानको उन का सबसे प्रधान प्रतिनिधि मानते हैं। वह सामाजिक मनोविज्ञानको जातियों जैसे भाषा, पौराणिक विचार और आचारोंकी मानसिक उत्पत्तियों के अध्ययनसे सम्बद्ध मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञानका एक अभिन्न अंग है, या एक अध्ययन विधि है जिसकी योजना हमारी अधिक जटिल मानसिक प्रणालियोंके समझनेके लिए की गई है। उनके लोक मनोविज्ञान (volker psychologie) पर लिखे गए बड़े ग्रन्थ भाषा, पौराणिक कथा, आचार, विधि और सामाजिक संगठनके इस दृष्टिकोणसे अध्ययन के ही भेंट किए गए हैं। एक पिछले और अधिक संक्षिप्त ग्रन्थमें उन्होंने मनुष्य विकास तथा उन गतियोंका जिनमें से यह निकला होगा, संयुक्त प्रदर्शन करनेकी चेष्टा की है।*

२. अब तक जिस काम पर विवाद हुआ है वह लजारस और स्टाइंथाल के कार्यक्रमके पहले भागमें अधिकतर आता है। परन्तु एक बहुत बड़ा साहित्य उस पर भी है जिसे विशेषकर सामाजिक मनोविज्ञान कहते हैं, जो विभिन्न जातियों और लोगोंकी विशेष मानसिक विशेषताओंसे व्यवहार करता है। यह साहित्य अधिकतर उन्नीसवीं शताब्दीकी राष्ट्रीय आत्म चेतना के विशेष विकासके द्वारा उत्तेजित किया गया था। जैसे १८७० का युद्ध और जर्मन विजयका कारण निर्धारित करनेकी अभिलाषा ने पैटर डाइडन (Pater Didon) की पुस्तक ला एलेमॉंज ("Les Allemands" Paris 1884) को लिखवाया। जर्मनकी अपेक्षा लैटिन लोगोंके ह्रास

---

* उनके पिछले ग्रन्थ के संक्षिप्त वर्णनके लिए "हिब्र्ट जर्नल" (Hibbert Journal) १९१६-१७ पृष्ठ ३३७ में लेखकका लेख देखिए।

की नैत्यिक भविष्यवाणी ने अधिकतर फ़ॉली की पुस्तक (Foullée's "Psychologie du peuple francais" Paris 1898) को लिखवाया। इसी प्रकार अन्त पुस्तकें भी हैं। गोबिनॉ (Gobinau) और चेम्बरलेन (Chamberlain) जैसे लेखकोंके द्वारा जागृत किए गए जातीय मनोविज्ञानके प्रयत्नको भी सूचित किया जा सकता है।

इस समूहकी बहुतसी पुस्तकें लोगोंके मनोविज्ञानकी अन्तर्दृष्टिकी विशेषतासे पूर्ण हैं, परन्तु यह सन्देहजनक है कि वह शुद्ध विज्ञानके क्षेत्रकी है। वह सुगम सामान्य अनुमानोंसे पूर्ण हैं, जिनका आधार सामान्य प्रभाव और अस्पष्ट अनुमान है। वह सब इस बातसे हानि उठाती हैं कि चरित्रका कोई शुद्ध विज्ञान नहीं है और लेख प्रमाण तथा निरीक्षणकी सामान्यतया मानी हुई विधियोंका अभाव है। ऐसी सामान्यताओंका जैसे एक राष्ट्र वासियोंमें अमूर्त्त विचार होते हैं और अन्य आगमन रूपसे (inductivity) प्रवृत्त हैं या कि एक राष्ट्रवासी संशयात्मक और आलोचक हैं तथा अन्य किसी भी सिद्धान्तको माननेको तैयार हैं, कहुत कम मूल्य है। विशेषकर सामूहिक पदोंके प्रयोगसे और यह मान लेनेमें कि एक जातीय या राष्ट्रीय-मस्तिष्कका अस्तित्व है और लोगों पर जो कुछ होता है उसके लिए उत्तर-दायी है, बहुत गड़बड़ी हुई हैं; और परिणाम है---वेगपूर्ण सामान्य अनुमान जिसकी ओर सामूहिक मस्तिष्कका विचार बड़ी सरलतासे झुक जाता है। विभिन्न निरीक्षकोंके कथन जो राष्ट्रीय विशेषताओंके सम्बन्धमें हैं एक दूसरे का विरोध करते हैं। इस प्रकार जैसे, चेम्बरलेन के अनुसार, यहूदी विशेष दृढ़ इच्छा वाले होते हैं। और जर्मन बुद्धिमान्, और लपूज (Lapouge) कहते हैं कि सामान्य योरोपियनमें साधारण बुद्धि, और दृढ़ इच्छा होती है! राष्ट्रीय विशेषताओंके लिए जो व्याख्या दी जाती है वह प्राय: बहुत सन्देहात्मक प्रकृतिकी होती हैं। इसका सम्बन्ध विशेषकर जलवायु सम्बन्धी दशाओंके प्रत्यक्ष प्रभावसे है। इस प्रकार लेजर (Leger) के अनुसार रूस में स्टेप्स (steppes) का प्रभाव निरंकुश शासनकी ओर है। दुर्भाग्यसे लेबन (Laban) के अनुसार स्टेप्स हंगेरियनमें केवल साहस और स्पष्टता ही नहीं उत्पन्न करते वरन् स्वतंत्रताका एक विचित्र प्रेम भी उत्पन्न करते हैं। फिर लेराय-बलॉ (Leroy-Beaulien) रूसवालोंके स्वप्नवत् चरित्र

को रूसी मैदानोंसे संबद्ध करते हैं। जबकि लेबन को हंगेरियन मैदानोंमें उनके वास्तविक स्वभावकी व्याख्या मिल जाती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे निर्णय करनेमें विशेषकर लोक मनोविज्ञानकी बहुतसी पुस्तकोंके सन्दिग्ध चरित्रको सिद्ध करनेके लिए सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। सारे विषय एक सावधान विश्लेषण और उचित समस्याओं पर स्पष्ट कथन, तथा एक सामान्यतया मानी गई लेखप्रमाण और निरीक्षण विधिकी आवश्यकता है।

३. पारिणामवादके विकास और उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण जो महत्व बढ़ रहा है, उसने तुलनात्मक मनोविज्ञानके बहुमूल्य कार्यको प्रारम्भ किया है, जिसका सामाजिक मनोविज्ञानकी समस्याओंसे महत्वशाली सम्बन्ध है। जैसे बालडविनकी उत्पत्ति सम्बन्ध(genetic) विधि ("Social and Ethical Interpretations") "प्रारम्भिक अवस्थाओंमें मनुष्यके मनोवैज्ञानिक विकासमें छान-बीन करती है, जिससे उसकी सामाजिक प्रकृति और उस सामाजिक संगठन पर जिसमें उसका एक भाग है प्रकाश पड़ सके। इसी भाग में रॉयस (Royce) की पुस्तक और कुछ बातोंमें डा० मैक्ड्युगल को काम भी है और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने व्यक्ति और समाजके बीचके सच्चे सम्बन्ध और व्यक्तिके द्वारा अपनी चेतनाकी प्राप्तिमें सम्मिलित प्रणालीके सम्बन्धमें स्पष्ट विचार प्राप्त करनेमें सहायता दी है।

४. तुलनात्मक मनोविज्ञानका विकास, और अन्तरावलोकनके विरोध में व्यवहारके अध्ययनके प्रति बढ़ता हुआ अवधान कुछ अंशमें सामाजिक मनोवैज्ञानिकोंके एक नए सम्प्रदायकी उत्पत्तिके लिए उत्तरदायी है। वह मनोवैज्ञानिक सामाजिक जीवनमें सम्मिलित मूलप्रवृत्तिशील, संवेगशील और अचेतन बातोंको प्रकाशमें लानेमें रुचि रखते हैं। इस सम्प्रदायका आरम्भ बेजहॉट से हुआ कहा जा सकता है, जिसने सामाजिक प्रणालीके अनुकरण के महत्त्व पर ज़ोर दिया। उसके बाद टार्डे का नम्बर है जिसने इस आधार पर एक बृहत् समाज विज्ञान सम्बन्धी पद्धति कार्यान्वित की और जिसका अनुकरण अधिकतर अमेरिकन समाज विज्ञानवेत्ता रॉस ने किया। ले बॉ के प्रचलित ग्रन्थोंमें वही प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है। प्रो० ग्राहम वालेस की पहलेकी पुस्तक ("Human Nature in Politics," 1908) भी चरित्रमें बुद्धिवाद विरोधी थी और ऐसी प्रणालियों जैसे संकेत, अनुकरण,

आदत, मूलप्रवृत्ति और सामान्यतया अचेतन बातोंका सामाजिक जीवनमें महत्व सम्मुख लानेके लिए लिखी गई थी। डा० मैक्ड्यूगल की पुस्तक (Introduction to Social Psychology) लगभग उसी समय निकली जब प्रो० वालेस की। इस पुस्तकमें, जिसमें समाज विज्ञान सम्बन्धी खोजके बहुतसे क्षेत्रोंको बहुत प्रभावित किया है, उन्होंने मनुष्य जीवनके "प्रधान संचालकों" की भांतिके मूलप्रवृत्तिके सिद्धान्तको कार्यान्वित किया और प्रधान नियमोंका ढांचा बनाया जो उनकी रायमें सब आचरण निर्धारित करते हैं। अपनी हालकी पुस्तक ("The Group Mind," 1920) में डा० मैक्ड्यूगल आचरणके मूल नियमोंके अपने पहले वर्णनका प्रयोग ऐसे समूहोंके व्यवहारको समझानेके लिए करते हैं जैसे ढीले संगठन वाली भीड़, उच्च संगठन वाली सेना, और सामूहिक मस्तिष्कका सबसे ऊंचा रूप, मस्तिष्क, जैसे एक राष्ट्रीय राज्यका। बराबर मूलप्रवृत्तियों और स्थायीभावों पर ज़ोर दिया गया है, जबकि "बौद्धिक समझकी भांति अकेला विचार कोई प्रभाव नहीं डाल सकता" (पृष्ठ १७०)। वह उन्नतिके लिए "बौद्धिक" क्रियाओंके महत्वपर भी ज़ोर देते हैं, यद्यपि कुछ सन्देह से (पृष्ठ २९७ आदि)।

५. मनश्चिकित्सा (psycho-pathology) का विलक्षण विकास जो फ़ॉयड (Freud), जूंग (Jung) और अन्योंके नामसे सम्बद्ध है, उसने भी सामाजिक सिद्धान्तके विशेष कार्यको बढ़ाया है, और जो हमारे शीर्षक ४ के नीचे निर्दिष्ट कामके समान दशाकी ओर प्रवृत्त है। मनोविश्लेषण के परिणाम इतिहासके महान् व्यक्तियों जैसे लिओनार्डे ड विंसी पर फ़ॉयड की पुस्तक और अमेरिकन लेखकोंकी लूथर और लिंकन पर अध्ययनकी व्याख्या करनेमें परिणत कर दिए गए हैं, और प्रायः विशेष सफलताके साथ। यह सम्भव मालूम होता है कि मनोविश्लेषण सामाजिक अशान्तिके बहुतसे भागों और विशेषकर अराजकताके महान् व्याख्याताओं पर तथा अतिव्यक्तिवाद पर प्रकाश डालेगा (इस सम्बन्धमें Psychoanalyse und soziologie शीर्षक Aurel Kolnai की हालकी पुस्तकसे तुलना करो)। फ़ॉयड का विरोध सम्बन्धी सम्बोध (concept) ऐसी राजनीतिक क्रान्तियों से सम्बद्ध समस्याओं तथा आर्थिक जीवन और क्रियाकी समस्यासे व्यवहार

करनेमें अत्यधिक सहायक है। आर्थिक जीवन और क्रियाके सम्बन्धमें श्री ओर्डवे हीड के «"Instincts in Industry"» तथा एक बहुत रोचक लेखको संकेत करना अच्छा है जिसमें प्रो० विलियम एफ़० ऑग्बर्न ने यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि "स्थान परिवर्तन लाक्षणिक अर्थों निकास, प्रतिफल (compensation), तथा विवेकपूर्ण व्याख्यों (rationalization) जैसी अचेतन यंत्र रचनाओं (mechanism) की क्रियाशीलताके द्वारा आर्थिक प्रेरक साधारणतया छद्मवेशमें रहते हैं "(American Economic Review," Supplement, March, 1919)। फ़ॉयड ने स्वयं मनोविश्लेषणके परिणामोंको taboos और totemism की व्याख्यामें कार्यान्वित किया है और उनके सम्प्रदायके अन्य लोगोंने नए मनोविज्ञानके दृष्टिकोणसे धर्मके मनोविज्ञानका अध्ययन किया है। जुंग और उसके अनुसरणकर्त्ता फ़ॉयड से विरोधी कार्य विधिका अनुसरण करते मालूम होते हैं। जब कि फ़ायड व्यक्तिगत मनोविज्ञानसे प्राप्त परिणामोंको लोक मनोविज्ञानको समझनेमें लगाते हैं। जुंग और उनका समुदाय लोक मनोविज्ञानकी सामग्रीको व्यक्तिगत मनोविज्ञानके तथ्योंकी अपनी व्याख्यामें लगाते हैं। अभी इन सब कार्य के सामाजिक सिद्धान्तका मूल्य आंकना बहुत जल्दी है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसने अनुसन्धानकी बहुत सी आकर्षक श्रेणियां खोल दी हैं और वह कि यह अभी से महत्वशाली सहायता देने लगा हैं।*

६. हाल की पुस्तकोंकी प्रवृत्ति सामाजिक जीवनको अचेतन और मूल प्रवृत्तिशील बातों पर ज़ोर देने की है, और बहुतसे लेखकोंने हालके मनोविज्ञान के परिणामोंका प्रयोग जिसे सामाजिक समस्यायोंकी बुद्धिवादी "या" विवेकवादी व्याख्या कहते हैं उसके विरुद्ध आक्रमण करनेके लिए आधारकी भांति प्रयोग किया है। ऐसे आक्रमण बहुधा इच्छा और विवेककी प्रकृतिके या उनके बहुत अमूर्त्त विचारके प्रति मिथ्याबोधों पर आश्रित होते हैं। ऐसे

---

* एच० ई० बार्न्स (H. E. Barns on "Psychology And History," 1919) का एक रोचक लेख इस सम्पूर्ण विषयपर देखिए।

लखकोंकी भी कमी नहीं है जिन्होंने सामाजिक संस्थाओं और गतियोंको विवेक और विवेकमय प्रयोजनका स्थान दिखानेका प्रयत्न किया है। जैसे प्रो० ग्राहम वालेस अपनी पुस्तक (Great Society) में तर्क करते हैं कि विचार स्वयं एक सच्चा प्राकृतिक स्वभाव है और "केवल एक अधीन यंत्र नहीं जो एक सरल मूलप्रवृत्तिकी पूर्व उत्तेजनाकी आज्ञामें केवल कार्य कर रहा हो।" (ch. x)

प्रो० एल० टी० हॉब्हाउस (L.T. Hobhouse) की बहुतसी पुस्तकों पर भी ध्यान देना चाहिए। उन्होंने मूलप्रवृत्ति और बुद्धि विवेक और इच्छाकी प्रकृति और सामाजिक क्रमिक उन्नतिमें प्रयोजनके अर्थका वर्णन दिया है, जिस पर बुद्धिवाद विरोधी सम्प्रदाय आक्षेप नहीं कर सकता।

यह कहना अनावश्यक है कि इस छोटी सी पुस्तकमें वह सब कुछ सम्मिलित नहीं किया जा सकता जिसका अभी जल्दीसे निरूपण किया है। हम केवल कुछ मुख्य समस्याओंके विवादमें ही अपनेको सीमित रखेंगे। सबसे पहले मूलप्रवृत्तिकी प्रकृति और समाजमें मूलप्रवृत्तिके भागका वर्णन दिया जाएगा। इससे हम कुछ उन आवश्यक सिद्धान्तों पर विचार कर सकेंगे जो हालमें ही कार्यान्वित हुए हैं, और जो मूलप्रवृत्तिके शब्दोंमें सामाजिक रचनाकी व्याख्या करनेकी चेष्टा करते हैं। फिर हम इच्छा और विवेककी प्रकृति और उनकी मूलप्रवृत्तियों तथा आवेगोंके सम्बन्ध पर विचार करेंगे। यह दिखानेकी आशा है कि बुद्धिवादी और बुद्धिवाद विरोधी दोनों एक उपद्रवी और मिथ्याबोध करनेवाले विवेकमयसे प्रयोगसिद्धका पृथक्त्व करानेके दोषी हैं और यह कि वह झूठा पृथक्त्व है जा सामाजिक जीवनमें एक आवश्यक तत्वकी भांति विचार या विवेकके विरुद्ध बहुतसे तर्कोंके लिए उत्तरदायी हैं। दूसरे सामाजिक मस्तिष्ककी प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्तोंका आलोचक वर्णन दिया जाएगा। इस विवादको बहुतसे लोग निष्फल और शुष्क समझेंगे, परन्तु दुर्भाग्यवश जो लोग सामूहिक मस्तिष्क की प्रकृतिके इस प्रकारके विवादको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं वह प्रायः वही लोग होते हैं जो अचेतन रूपमें इसके लिए बाहर हैं, और जो अपने सामाजिक मनोविज्ञानकी यथार्थ कार्यशीलतामें एक सामाजिक मस्तिष्कके

विचारका प्रयोग यह बात बिन जाने करते हैं कि वह ऐसा कर रहे हैं और जिसका परिणाम विनाशकारी है, विशेषकर राजनीतिक दर्शन में। अतः इस विचार पर आलोचनात्मक दृष्टिमें विवाद करना और यह निश्चित करना कि इसका मनोवैज्ञानिक शब्दोंमें एक समझने योग्य वर्णन दिया जा सकता है, सार्थक मालूम होता है। इस विश्लेषणका परिणाम यह दिखाता है कि सामाजिक या सामूहिक मस्तिष्कका विचार सामाजिक सिद्धान्तके लिए बहुमूल्य नहीं हैं और यह बहुत आपत्तियोंसे पूर्ण है विशेषकर सामाजिक दर्शनके क्षेत्रमें। अतः वह सामाजिक मस्तिष्ककी बात करते समय लोगोंके मस्तिष्कमें रहनेवाले वास्तविक तथ्योंका उन शब्दोंमें वर्णन करनेका प्रयास किया जाएगा जो सामाजिक मस्तिष्कको उपलक्षित नहीं करते। अतः इसके बाद रूढ़ि और आचार सामान्येच्छा और जनमत मूलवंशीय और राष्ट्रीय विशेषताओंकी प्रकृति तथा विभिन्न प्रकारके सामाजिक समुदायों जैसे कि जनता आदि की एकता पर विवाद किया जाएगा। अन्तिम अध्यायमें प्रजातंत्रीय संगठनकी समस्याओं पर सामाजिक मनोविज्ञानके परिणामोंके प्रभाव पर संक्षेपमें विचार होगा।

अध्याय १

मूलप्रवृत्ति की सामान्य प्रकृति

लौकिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक साहित्य म भी (मूलप्रवृत्ति) शब्दका प्रयोग अभी तक बहुत अस्पष्टतासे किया जा रहा है, परन्तु हालकी खोजों के कारण कुछ सन्देह और मिथ्याबोध दूर हो गए हैं। अब सामान्यतया यह माना जाता है कि मूलप्रवृत्तियां सर्वथा अपरिवर्तनशील, अशुद्धिरहित और प्राणिविद्या (biology) की दृष्टिसे सदा ही लाभप्रद नहीं होतीं। और अब यह भी सामान्यतया माना जाता है कि उनकी व्याख्या प्राणिविद्याके शब्दों में विशेष उत्तेजनाओंकी प्रतिक्रियाके पैतृक क्रमोंकी भांति की जानी चहिए। जीवन संघर्षमें मूल्यवान् होनेके कारण यह क्रम जातीय-परम्परासे चले आ रहे हैं। यह माना जाता है कि प्रोटोप्लाज़्म (protoplasm) की विशेषता बताने वाले आकस्मिक और विभिन्न कार्योंमें से कुछ जो लाभप्रद्ध सिद्ध हुए वह जातिमें स्थापित हो गए और उनको परम्परा-निर्माणमें एक आधार दे दिया गया। इसी प्रकार मूलप्रवृत्तिशील क्रियासे हमारा तात्पर्य गतिकी उन न्यूनाधिक पेचीली श्रेणियोंको सूचित करना है जो मूलवंशके लाभ की दृष्टिसे ग्रहण की गई हैं। वह जन्मसे निर्धारित और व्यक्तिके पूर्वानुभव से स्वतंत्र हैं। यहां तक तो एक मत है, परन्तु गतिकी इन श्रेणियों अथवा आत्मिक (psychical) प्रणालियोंके सम्बन्धमें मतभेद अब भी चालू है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए यह आवश्यक है कि मूलप्रवृत्ति प्रतिक्षेप क्रिया (reflex action), और बौद्धिक कार्यका क्रमानुसार सम्बन्ध समझा जाए।

कुछ लेखक इस विषयमें हर्बर्ट स्पेंसर का अनुसरण करते हुए मूलप्रवृत्ति की परिभाषा मिश्रित प्रतिक्षेप क्रिया कहकर करते हैं। परन्तु जैसा कि प्रोफ़ेसर लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan) ने दिखाया है, यह दोनों

प्रकृतिमें भिन्न हैं, जबकि प्रतिक्षेप क्रिया (reflex action) एक निश्चित और स्थानगत क्रिया है, मूलप्रवृत्तिशील व्यवहार सम्पूर्ण प्राणीकी प्रतिक्रिया है। इनकी विभिन्नता बतानेके लिए कदाचित् अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसका निर्धारण और शासन सन्तोष चाहने वाली एक विशेष उमंग (mood) या खिचाव, अभिलाषा या लालसाके द्वारा होता है, जो कार्यकी सारी शृंखला सम्पूर्ण होने तक बनी रहती है। एक मूलप्रवृत्ति जब क्रियाशील होती है, या यों कही जाए कि आवेगशील (impulsive) प्रवृत्तिकी होती है तब इनमें ज्ञानात्मक (cognitive) और रागात्मक (affective) दोनों चेतन पक्ष होते हैं। अतः चाहे गति-पक्षमें मूलप्रावृत्तिक व्यवहार कई एक प्रतिक्षेप कार्योंसे भरा हो फिर भी हम इसमें सम्मिलित आत्मिक (psychical) प्रणालियोंके द्वारा इसे केवल प्रतिक्षेप (reflex) व्यवहार से अलग कर सकते हैं।

मूलप्रवृत्ति और बुद्धिके सम्बन्धकी कठिन समस्या हमारे सामने है। उपरोक्त तर्कोंसे पता चलता है कि मूलप्रवृत्तियोंमें एक चेतन पक्ष भी होता है, परन्तु क्या वह बुद्धिकी सजातीय हैं? मूलप्रवृत्तिके "विशुद्ध" उदाहरण, विशेषकर उच्चतर जीवोंमें, मिलना कठिन है, इस कारण यह प्रश्न और भी कठिन हो जाता है, तथा उनमें से वंश परम्परा और अनुभवका भाग अलग करना सरल नहीं है। पशु व्यवहार विभिन्न और आग्रह युक्त (persistent) प्रयत्न प्रदर्शित करता है और इसमें सन्देह नहीं कि किसी न किसी रूपमें प्राणी अनुभवसे अवश्य सीखता है। विभिन्न प्रयत्नके साथ यह आग्रह अनेकों मूलप्रवृत्तिशील क्रियाओंमें भी दिखाई पड़ता है और यह स्पष्ट है कि उन कार्योंमें अनुभवसे सीखना अवश्य होता होगा। कुछ भी हो चरित्र और विधिमें मूलप्रवृत्ति और बुद्धि भिन्न हैं। इस प्रकार मूलप्रवृत्ति अनुभवसे स्वतंत्र है और प्रायः जन्मके समय पूर्ण होती है। बौद्धिक कार्यमें एक उद्देश्य या प्रयोजनका पूर्व ज्ञान होता है, परन्तु यह मानना कठिन है कि ऐसा हो सकता है, जैसे कीड़ोंकी पेचीली मूलप्रवृत्तियोंमें। जिस जटिलता तथा आश्चर्यजनक व्यवस्थाको मूलप्रवृत्तिशील कार्य प्रकट करते हैं, वह सिद्ध करती हैं कि उनका प्रयोजनमूलक होना स्पष्ट है, क्योंकि मनुष्य-अनुभवके उदाहरणके आधार पर निर्णय करनेसे यह समझा जा सकता है कि

यह किसी तरह कार्योंकी एक अकेली शृंखलामें सीमित नहीं रह सकते थे और उनको करने योग्य प्राणी वह बात नहीं प्रदर्शित करते जिसे फ़ेबर (Fabre) ने "नितान्त मूर्खता" कहा है, जबकि उन्हें ऐसी परिस्थितिका सामना करना पड़ता जिसमें मूलप्रवृत्ति कुछ सहारा नहीं लगाती।

यद्यपि मूलप्रवृत्ति बिल्कुल पूर्वरचित निर्माण पर आश्रित है, फिर भी यह मशीनकी तरह नहीं है, और यद्यपि यह प्रयोजनसे निर्धारित नहीं होती तथापि इससे पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है। वास्तवमें जैसा प्रोफ़ेसर हॉबहाउस (Hobhouse)* ने स्पष्टतया दिखाया है, कि बुद्धिका विकास होना मूलप्रवृत्तिके क्षेत्रके अन्तर्गत है और जैसे-जैसे इसका विकास होता जाता है, यह मूलप्रवृत्तिशील क्रियाओंकी स्थिरता और दृढ़ताको कम करती जाती है। शुद्ध मूलप्रवृत्तियोंमें एक आग्रहयुक्त प्रकृतिके द्वारा उसे कुछ परिणामोंकी प्राप्तिकी ओर निर्दिष्ट कर दिया जाता है, और कार्य सब प्रतिक्षिप्त (reflex) या ज्ञान-गति सम्बन्धी (sensuosmotor) होते हैं। सब अवस्थाओंको एक व्यवस्थित प्रकारसे पार करना होता है, और बहुत संकुचित क्षेत्रके अतिरिक्त उसमें किसी भी अवस्था पर परिवर्तनके लिए स्थान नहीं होता। बढ़ती हुई बुद्धिके साथ मध्यम-पद पर ध्यान कम होता जाता है और केवल अन्तिम उद्देश्य विशेषता रखता है। सबसे पहले बुद्धि केवल उन्हीं उद्देश्योंको ग्रहण करती है जो बिल्कुल सामने हों, और यदि इसकी प्राप्तिके साधारण साधन असफल हो जाएं तब अन्य साधन ग्रहण करने होंगे, परन्तु यदि कार्य पूर्णतया मूलप्रवृत्तिशील होता तो साधारण कार्यक्रममें विघ्न पड़नेसे पहलेकी सारी कार्य प्रणाली खंडित हो जाती। धीरे-धीरे बुद्धिका क्षेत्र और पूर्व दृष्टिकी शक्ति बढ़ती जाती है, यह दूर और अधिक दूरके उद्देश्योंको ग्रहण करने लगती है, और अन्तमें यह आचरणके सम्पूर्ण प्रयोजनको ग्रहण करनेके योग्य हो जाती है। इस अवस्थामें आचरणके उद्देश्य चाहे परम्परा क्रमके द्वारा निर्धारित हों, परन्तु उनकी सिद्धिके साधन बहुत भिन्न होंगे, और प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभवके

---

* "माइंड इन इव्योल्युशन" अध्याय ६ ("Mind In Evolution" Ch. VI).

अनुसार उनको निश्चित करेगा। जहां तक एक कार्य मूलप्रावृत्तिक है जैसे ही क्रमबद्ध पद आते जाएंगे वह मूलभावना या "उमंग" ("stimmung") के आधार पर किए जाएंगे। यह भावना या "उमंग" किसी अस्पष्ट भावना या सन्तोषकी कामनाको जागृत करती है और ग्रहण किए गए पद, प्रतिक्रियाकी परम्परागत तरीक़े होंगे, जिनमें बहुत कम विभिन्नता होगी। बुद्धिके विकाससे कार्य प्रणाली अधिक व्यवहार योग्य हो जाती है और दिए हुए उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिए साधनोंमें परिवर्तन सम्भव हो जाता है। मूलप्रवृत्तिशील क्रियाओंकी विशेषता है पुरानी और यांत्रिक विधियां काममें लाना। परन्तु बुद्धिके विकासके कारण इससे भिन्न विधियां कार्यशील हो सकती हैं।

उपरोक्त विवादसे पता चलता है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्तिमें क्रियात्मक (conative), ज्ञानात्मक (cognitive), और रागात्मक (affective) पक्ष होते हैं। उत्तेजनाका एक प्रत्यक्षीकरण (perception) एक भावना तत्त्व होती है, जो एक आकांक्षा या लालसा, या अधिक स्पष्ट रूपमें, रुचिकी एक भावना या औचित्य कहा जा सकता है, जिसके साथ बहुत-सी गतियां या गति-संवेदन (sensation) होते हैं—कार्यकी पूर्तिमें सन्तोष और अपूर्तिमें असन्तोषकी भावना। प्रोफ़ेसर हॉबहॉउस ने दिखाया कि मूलप्रवृत्तियोंमें जो कुछ भी अनुकूलता हो सकती है वह रुचि तत्त्वके कारण है। शुद्ध मूलप्रवृत्तियोंमें वह कार्य-श्रेणी जो स्थायी प्रकृति या लालसा के दबावके कारण अपने मार्गका अनुसरण करती है वह बहुत कुछ शुद्ध प्रकार के प्रतिक्षेपके समान हैं। सुधार और अनुकूलता धीरे-धीरे होती रहती है। प्रारम्भमें केवल ज्ञान-गति-सम्बन्धी कार्य होते हैं, जिनमें अस्पष्ट इन्द्रिय-संयोग (sense-synthesis), निर्णयका एक प्राथमिक कार्य सम्मिलित होता है, जो विभिन्न अवस्थाओंकी आवश्यकताओंके अनुकूल होता है और अन्तमें हम ऐसी अवस्थाको पहुंचते हैं जहां बाधाएं दूर हो जाती हैं और कठिन परिस्थितियोंका सामना इस प्रकार किया जाता है जिसकी व्याख्या अनुभव-प्राप्त बौद्धिक ज्ञानके सन्दर्भसे ही की जा सकती है।

डा० मैक्ड्यूगल (McDougall) की पुस्तकमें मूलप्रवृतिके ज्ञानात्मक (cognitive) और रागात्मक (affective) पक्षों पर

ज़ोर दिया गया है। और उनके सिद्धान्त पर विचार करनेसे हमें मूलप्रवृत्तिकी प्रकृतिकेविचारको स्पष्ट करनेमें सहायता मिलेगी। डा० मैक्ड्यूगल मूलप्रवृत्ति का वर्णन मस्तिष्कके तीन परिचित विभागों ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक प्रवृत्तियों पर करते हैं और वह यह मान लेते हैं कि यह तत्त्व नाड़ी मंडल (nervous system) के विभिन्न भागोंके अर्थात् ज्ञानवाही, (afferent), क्रियावाही (motor) तथा केन्द्रीय भागोंके अनुरूप हैं। उनके अनुसार मूलप्रवृत्ति एक रागात्मक (affective) या भावना प्रकृति, एक या अधिक ज्ञानात्मक प्रकृति तथा एक क्रियात्मक प्रकृतिके बीचका एक स्वाभाविक संयोग है। मूलप्रवृत्तिशील क्रियामें किसी उत्तेजनाका प्रत्यक्षीकरण (perception) और उसके प्रति ध्यान, ऐसे प्रत्यक्षीकरण पर संवेगशील उत्तेजना (immotional excitement), और इस सम्बन्ध में एक किसी निश्चित व्यवस्थासे कार्य करनेका आवेग (impulse) सम्मिलित है। यह डा० मैक्ड्यूगल के मतका अंग है कि (१) प्रत्येक मूलप्रवृत्तिके साथ एक विशेष प्रकारका संवेगात्मक उत्तेजन होता है यद्यपि कुछ स्थितियोंमें इसमें व्यक्तिगत पृथक्त्व नहीं होता और (२) जबकि उत्तेजित मूलप्रवृत्ति प्रधान होती है, संवेगात्मक उत्तेजनामें, जो कि इसका रागात्मक रूप है, एक गुण होता है जो इसकी विशेषता और आसाधारणता है और जिसे एक "प्रारम्भिक संवेग" कह सकते हैं। (३) और डा० मैक्ड्यूगल के अनुसार ज्ञानवाही (afferent) और गति तत्व और इसलिए हमारी प्रकृतिके ज्ञानात्मक और क्रियात्मक भागमें बहुत परिवर्तन हो सकता है, जब कि केन्द्रीय भाग अतः संवेगशील पक्ष स्थायी और पैतृक है और मनुष्यमें अपरिवर्तित रहता है। फलस्वरूप मनुष्यमें ज्ञानात्मक विधियां और मूलप्रावृत्तिक कार्योंकी शारीरिक गतियां अनुभवके बढ़नेके साथ अधिक परिवर्तित और गहन हो जाती हैं, जबकि संवेगात्मक उत्तेजन और साथकी नर्वस क्रिया सब व्यक्तियोंमें साधारण और सब परिस्थितियोंमें समान रहती हैं।

डा० मैक्ड्यूगल ने उन मूलप्रवृत्तियोंकी सूची दी है जिनको वह मौलिक और प्रधान मानते हैं। प्रत्येकका एक सम्पूर्ण और विशिष्ट अंग एक स्पष्ट "प्रारम्भिक" संवेग है : पलायन (flight) की मूलप्रवृत्ति और भय (fear) का संवेग। निवृत्ति (repulsion) की मूलप्रवृत्ति और घृणा

(disgust) का संवेग। उत्सुकता (curiosity) की मूलप्रवृत्ति और आश्चर्य (wonder) का संवेग। युयुत्सा (pugnacity) की मूल-प्रवृत्ति और क्रोध (anger) का संवेग दैन्यवृत्ति (self-abasement) की मूलप्रवृत्ति और अधीनता (subjection) का संवेग, (निषेधार्थक आत्म भावना) आत्मगौरव (self-assertion) (आत्म प्रदर्शन self-display) की मूलप्रवृत्ति और गर्व (elation) का संवेग (यथार्थ आत्म-भावना) पुत्र-कामना (parental) की मूलप्रवृत्ति और वात्सल्य (tender) का संवेग।

यह सात मूलप्रवृत्तियों और उनके प्रारम्भिक संवेगोंसे लगभग सब साधारणतया माने जानेवाले संवेग निकल आते हैं। इनके अतिरिक्त और भी मूलप्रवृतियां हैं जिनका "संवेगोंकी उत्पत्तिमें थोड़ा भाग है," परन्तु इनके कुछ आवेग (impulse) अवश्य हैं जिनका सामाजिक जीवनमें अधिक महत्व है। इनमें पुनरुत्पादन (reproduction) की मूलप्रवृत्ति, सामूहिक (gregarious) मूलप्रवृत्ति, संग्रह (collection) की मूलप्रवृत्ति, रचना (construction) मूलप्रवृत्ति, और कुछ छोटी मूलप्रवृत्तियां जैसे घुटनियों और पैदल चलनेको बढ़ावा देनेवाली, सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य और अविशेष स्वाभाविक प्रवृत्तियां (tendencies) भी हैं, जैसे सहानुभूति, भावना (feeling) या संवेगके अनुभव करनेकी प्रवृत्ति, जब हम दूसरोंमें उसी भावना या संवेगका प्रदर्शन देख रहे हों, संकेत-योग्यता (suggestibility), अनुकरणकी प्रवृत्ति, खेलने और आदत डालनेकी प्रवृत्ति।

डा० मैक्ड्यूगल के अनुसार मूलप्रवृत्ति मनुष्यकी प्रत्येक क्रियाका आधार है। सुविकसित मस्तिष्कके कार्य मूलप्रवृत्तिके द्वारा दिए गए आवेगोंको कार्य रूपमें परिणत करनेके साधनमात्र हैं, दुःख सुख केवल पथ प्रदर्शकका काम करते हैं और आदतें केवल मूलप्रवृत्तियोंकी सेवामें ही लगी रहती हैं। "तब हम कह सकते हैं कि मूलप्रवृत्तियां, परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यके सब कार्योंकी प्रारम्भिक संचालक हैं। किसी मूलप्रवृत्ति (या मूलप्रवृत्ति-जन्य किसी आदत) की आवेगशील (impulsive) या क्रियात्मक शक्ति कितनी भी उदासीन या कामनारहित मालूम होनेवाली विचार श्रृंखलाको अप ने

उद्देश्यकी ओर ले जाती है, और प्रत्येक शारीरिक क्रिया प्रारम्भ होती और चालू रहती है…इन मूलप्रवृत्तिशील अवस्थाओंको इनकी शक्तिशाली प्रवृत्तियों सहित हटा दो, तो जीवधारी किसी भी प्रकारकी क्रिया करनेमें असमर्थ हो जाएगा; यह उतना ही निश्चल और गतिहीन पड़ा रहेगा जैसे बड़ी बढ़िया घड़ी जिसकी बड़ी कमानी हटा दी गई हो, या वह स्टीम इंजन जिसकी आग बुझा दी गई हो (पृष्ठ ५१-५५)।"

डा० मैक्ड्यूगल ने अपने सिद्धान्तकी व्याख्या बहुत ही आकर्षक प्रकार से की है, और उनकी योजनामें एक प्रकारकी शिल्प विद्या जैसी सरलता है, जिसके कारण इसके बहुतसे अनुगामी हो गए हैं और खोजके बहुतसे क्षेत्रोंमें इसका प्रयोग करणीय अनुमान (working hypothesis) की भांति किया गया है और इससे बहुतसे बहुमूल्य परिणाम निकले हैं परन्तु यह सिद्धान्त आलोचनासे न बच सका और इसकी बहुत-सी सारभूत बातों पर प्रश्न किए गए हैं। निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जा सकता है।

१ सामाजिक मनोविज्ञानमें, ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक प्रवृत्तियोंमें मस्तिष्कका विभाजन कुछ हद तक बहुत सूक्ष्म रूपसे किया गया मालूम होता है। वास्तवमें वह एक अकेली प्रणालीके स्वरूप हैं। विशेषकर भावना और क्रियाका बहुत निकट सम्बन्ध है। जैसे अप्रसन्नताकी भावना उसे दूर करनेके लिए आरम्भ होनेवाली प्रवृत्ति है, और आनन्दकी भावना उसकी रक्षा करनेकी आरम्भ होनेवाली प्रवृत्ति है।

२. दूसरे इस बात पर भी प्रश्न किया जा सकता है कि डा० मैक्ड्यूगल का एक मूलप्रवृत्तिको अलग-अलग स्वभावोंका संयोग मानना, जिन्हें वह रचनात्मक इकाइयां कहते हैं जैसे एक ज्ञानात्मक स्वभाव, और एक क्रिया-रागात्मक स्वभाव, कहां तक ठीक है। जैसा कि प्रोफ़ेसर स्टाउट ने कहा है, "यह तभी ठीक हो सकता है जब यह साफ़-साफ़ दिखा दिया जाए कि प्रत्येक मूलप्रवृत्तिशील क्रियाके अन्दर किसी उसी प्रकृतिकी चीज़का ज्ञान स्वाभाविकतया निश्चित है जो कि अन्यथा अनुभवसे सीखा जाता है। यदि उदाहरण के लिए हम यह मान सकते कि अगर एक छोटी गिलहरीको अख़रोट मिलता है तो वह अपनी स्वाभाविक रचनासे यह जान लेती है कि इसके अन्दर गिरी है, और यदि हम यह मान सकते कि प्रत्येक मूलप्रवृत्तिशील

प्रणालीके अन्तर्गत अवश्य ही ऐसा स्वाभाविक ज्ञान होता है तो एक विशेष ज्ञानात्मक अवस्थाके अस्तित्वको मूलप्रवृत्तिकी परिभाषाका अंग बनाना शायद ठीक होगा।" परन्तु तथ्योंको केवल आवश्यकता "सामान्यतया जानने या समझनेकी शक्ति, और विशेष ज्ञान सम्बन्धी रुचिकी है, जिसके द्वारा अन्यको छोड़कर कुछ पदार्थोंकी ओर ध्यान निर्दिष्ट होता है।" डा० मैक्‌ड्यूगल विशेष ज्ञानात्मक अवस्थाओंके अस्तित्वको पृथक रचनात्मक इकाइयोंकी भांति सिद्ध करते नहीं मालूम होते।"* इस सम्बन्धमें कदाचित् यह ध्यान देना आवश्यक है कि डा० मैक्‌ड्यूगलके वर्णनसे, यद्यपि निस्सन्देह उनका यह अभिप्राय नहीं है, यह प्रभाव पड़ता है कि मूलप्रवृत्तियां स्वतंत्र रचनात्मक इकाइयोंके लगभग यांत्रिक (quasi-mecha nical) समूह हैं, और सम्पूर्ण जीवधारी इन संवेग सहित मूलप्रवृतियोंका एक प्रकारका बंडल-सा है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मूलप्रावृत्तिक क्रिया सदैव सम्पूर्ण जीवधारीकी प्रतिक्रिया होती है, और विभिन्न मूलप्रवृत्तियां एक प्रकारसे विधेय हैं जिनके उद्देश्य जीवधारी हैं, यह वह तरीक़े हैं जिनके द्वारा जीवधारी अपनेको व्यक्त करता और रखता है। इसके साथ यह भी कह दिया जाए कि शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी (physiological) सिद्धान्त कि मूलप्रवृत्तिके तीन तत्व नाड़ी मंडल (nervous system) के विशेष अंगोंसे सम्बद्ध हैं, केवल अनुमान मात्र है।

३. डा० मैक्‌ड्यूगल के विरुद्ध आलोचनाकी तीसरी धारा वह है जो उनके मूलप्रवृत्ति और संवेगके आपसी सम्बन्धके विचारोंके विरुद्ध लक्षित है। यह अब सामान्यतया मान लिया गया है कि संवेग और मूलप्रवृत्तिका निकट सम्बन्ध है, परन्तु डा० मैक्‌ड्यूगल के सिद्धान्तकी विचित्रता यह है कि इसके अनुसार संवेग मूलप्रवृत्तिका उत्तेजक अंग है, और यह कि प्रत्येक प्रमुख मूलप्रवृत्तिका एक विशेष संवेग होता है जो इसके लिए विशेष होता है। इस स्थितिके विरुद्ध डा० शैंड ने अकाट्य तर्क उपस्थित किए हैं। इस झगड़ेमें दोनों ओर न्याय करना कठिन है, क्योंकि डा० मैक्‌ड्यूगल और

* सम्भवतया, फिर भी, मैक्‌ड्यूगल की "ज्ञानात्मक अवस्था (cognitive disposition)" ध्यान देने और देखनेकी अवस्थासे अधिक नहीं है।

डा० शैंड दोनों विभिन्न पदावलीका प्रयोग करते हैं, और एक अर्थमें वह मूलप्रवृत्ति और संवेगके सम्बन्धको उल्टी प्रकारसे मानते हैं। मैक्‌ड्यूगल के अनुसार संवेग मूलप्रवृत्तिकी क्रियाशील पद्धतिका अंग है और शैंड सोचते हैं कि कमसे कम कुछ मूलप्रवृत्तियां संवेगकी सम्पूर्ण पद्धतिका अंग हैं। यह केवल शब्दोंका ही हेरफेर नहीं है, वरन् इसमें दृष्टिकोणके मौलिक भेद हैं। जो कुछ भी हो श्री शैंड ने भी निम्न बातोंके सम्बन्धमें मैक्‌ड्यूगल के विरुद्ध अच्छी सफ़ाई दी है।

१. जन्मसे निर्धारित एक विशिष्ट संवेगको सम्मिलित किए बिना भी एक मूलप्रवृत्ति उत्तेजित की जा सकती है। यह नहीं दिखाया गया है कि एक बिल्कुल अकेला जन्मजात संवेग काम कर सकता है जैसे घोंसला बनाने, पीछा करने और शिकार पकड़ने में।

२. उसी प्रारम्भिक संवेगका सम्बन्ध बहुत-सी मूलप्रवृत्तियों या बल्कि क्रियात्मक अवस्थाओं (conative dispositions) से हो सकता है, जैसे भयका संवेग विभिन्न प्रकारके व्यवहार उत्पन्न कर सकता है, जैसे भागना, छिपना, मृत समान बन जाना, चुप रहना, गतिहीन होना, चिल्लाना और बचनेकी अत्यधिक चेष्टा करना।

३. वही मूलप्रवृत्ति विभिन्न संवेगोंके उद्देश्योंके प्रति सहायक हो सकती है जैसे पक्षियोंमें उड़नेकी (पलायन) मूलप्रवृत्तिका सम्बन्ध केवल भयके संवेगसे नहीं है वरन् अन्यसे भी है, जैसे क्रोध, व्यायामका आनन्द। गतिकी मूलप्रवृत्ति भय, क्रोध और घृणाके संवेगोंकी सहायक होती है।

सर्वोपरि, डा० मैक्‌ड्यूगल के विरुद्ध यह मानना चाहिए कि मूलप्रवृत्ति का रागात्मक या "रुचि" रूप संवेग नहीं, वरन् कुछ अवस्थाओंमें संवेगमें विकसिक हो जाता है, जैसे जब किसी प्रवृत्तिमें देर या रुकावट हो जाती है या जब उत्तेजन (excitement) इतना अधिक हो जाता है कि कार्यसे सन्तोष नहीं होता। यह ध्यान रखना होगा कि जब किसी मूलप्रवृत्तिकी क्रियात्मक प्रवृत्तिका सन्तोष तुरन्त हो जाता है तब संवेगशील भाग न्यूनतम होता है। संवेगका कार्य रुचि और आवेगको पुनः शक्ति प्रदान करना, आवेगके उद्देश्यको ध्यानके केन्द्रमें रखना और सन्तोषप्रद क्रिया पर जोर देना मालूम होता है। जैसा कि श्री शैंड ने कहा है यह मूलप्रवृत्तिसे अधिक

परिवर्तनशील है और जब मूलप्रवृत्ति सरलतासे कार्य नहीं करती होती या जब उसके कार्यसे सन्तोष नहीं मिलता तब यह जागृत होता है। (देखिए ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ साइकोलॉजी, नवम्बर १९१९: "दि जेनेरेशन एंड कंट्रोल ऑफ़ इमोशन")।

४. डा० मैक्ड्यूगल अपनी गिनाई हुई मूलप्रवृत्तियोंको मनुष्यके सब कार्योंकी प्रधान संचालक और सम्पूर्ण व्यवहारको प्रेरक शक्ति देने वाली मानते हैं। इसमें बहुत सावधानीसे निरुपण करनेकी योग्यताकी आवश्यकता है। मैक्ड्यूगल की मूलप्रवृतियां वास्तवमें प्रारम्भिक तत्व या ऐकिक नियम नहीं हैं बल्कि जैसा कि लॉयड मॉर्गन मानते हैं उनमें से प्रत्येक जातीय नाम है जिसमें अनेक प्रकारके व्यवहार सम्मिलित हैं, जो कि सामान्य प्रकारसे उन्हीं उद्देश्योंके सहायक होते हैं। जैसे, जब हम आत्मगौरव (self-assertion) या अधीनता (subjection) की मूलप्रवृत्तिकी बात करते हैं तब हम विभिन्न प्रकारके व्यवहारोंमें साधारणत: कुछ विशेषताओंको निर्दिष्ट करते हैं। यह सन्देहयुक्त है कि प्रवृत्तियोंको शक्तियां कहना ठीक है। प्रवृतियां केवल किन्हीं मूलप्रवृत्तिशील प्रणालियों (processes) की चेतन भाग हैं—ऐसी प्रणालियोंकी तीव्रताका अनुभूत भाग, परन्तु उनको उत्पन्न करनेवाली शक्तियां नहीं। अत: जब हम मूलप्रवृत्तियोंको "प्रधान संचालक" कहते हैं तो उसका अर्थ हम इतना ही लगा सकते हैं कि जीवनकी सब रुचियोंको कुछ शीर्षकोंके अन्दर संग्रह किया जा सकता है। अर्थात् वह सब आत्मगौरव, उत्सुकता, स्पर्धा आदिके ही रूप हैं। परन्तु इस स्थिति पर भी डा० वुडवर्थ (Woodworth) ने प्रश्न किया है। वह मानते हैं कि प्रत्येक मानुषिक योग्यताका एक रुचि-पक्ष होता है, "संगीतकी योग्यताके साथ सांगीतिक रुचि, संख्यावाचक सम्बन्धोंको व्यवहारमें लानेके लिए संख्यामें रुचि, यांत्रिक प्रयोगोंके साथ यंत्रकलामें रुचि, इत्यादि सब मनुष्योंमें सामान्यतया और केवल अपवादभूत व्यक्तियोंमें शक्तिशाली होनेवाली योग्यताओंमें ऐसे ही होता है" ("Dynamic Psychology" 174)।

डा० मैक्ड्यूगल का स्पष्ट रूपसे कहना है कि मनुष्यके सब कार्य प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियों और उनके तद्भवोंके अन्तर्गत संग्रहीत होने चाहिएं परन्तु जैसा कि हमने देखा है. प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियां अपनी सर्वोत्तम अवस्था

में भी, केवल जातीय नाम हैं, जिनमें प्रतिक्रियाके अनेक विभिन्न प्रकार सम्मिलित हैं, और यह सन्देहजनक है कि उनसे कुछ और प्राप्त करनेके प्रयत्नमें कुछ लाभ भी हो सकता है। वास्तवमें, जैसा कि मैं सोचता हूं प्रोफ़ेसर लॉयड मॉर्गन ने कहीं पर कहा है, सम्पूर्ण व्यवहारकी प्रवृत्ति समागम करने की है। मूलप्रवृत्तियां वातावरणकी न्यूनाधिक उत्तेजनाके प्रति प्रतिक्रियाके निश्चित प्रकार हैं और एक अर्थमें वह सब प्रारम्भिक हैं, अर्थात् उनकी उत्पत्ति वातावरणको अनुकूल बनानेमें होती है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्यके लिए ऐसे नए उद्देश्य निकल आएं जो प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियों का अनुसरण न करते हों? जो कुछ भी हो हमें प्रोफ़ेसर वुडवर्थ के साथ मानना चाहिए कि "मैक्ड्यूगल जितना स्वीकार करेंगे उसकी अपेक्षा मनुष्य जातिके स्वाभाविक प्रेरकों (motives) की पद्धति विशिष्ट मनुष्य व्यवहारके प्रति अधिक विस्तृत और अधिक उचित है।······संसार रुचिकर है केवल इसलिए नहीं कि यह हमें भोजन और आश्रय तथा हमारी सब प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियोंको उत्तेजना देता है, वरन् इसलिए कि इसकी बहुत-सी बाह्य विशेषताओंके अनुकूल बातें हमारे अन्दर हैं और इन विशेषताओंसे व्यवहार करनेमें हम रुचिकर और सन्तोषप्रद क्रियाओंके लिए बड़ी सरलता से उत्तेजित हो जाते हैं। मनुष्य जातिके प्रेरकों (motives) का क्षेत्र उस संसारकी भांति विस्तृत है जिसके साथ वह व्यवहार कर सकता और समझ सकता है।" ("Dynamic Psychology" pp 75-6).

५. मनुष्यमें मूलप्रवृत्तियोंके स्थान-सम्बन्धी मतके विरुद्ध डा० मैक्ड्यूगल का कदाचित् सबसे प्रधान आक्षेप यह है कि उनका झुकाव मूलप्रवृत्तियोंको आत्म जीवित और सम्पूर्ण जीवधारीको उनका एक प्रकारका समुदाय मानने की ओर है। परन्तु सच तो यह है कि यद्यपि निस्सन्देह मनुष्य प्रकृतिका आधार पैतृक है और मूलप्रवृत्तियों तथा संवेगोंमें पाया जाता है, परन्तु फिर भी पैतृक प्रवृत्तियां अलग जीवित नहीं रहतीं, वरन् वह एक दूसरेमें मिलतीं और बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण होती हैं। मूलप्रवृतियां अखंड और अपरिवर्तित रही हैं यह दिखानेके लिए बहुत कम प्रमाण मिलेगा। हमारी उमंगें पृथक् विभागोंसे निर्मित हैं और उनके अन्दर मूलप्रवृत्तियां ऐसे हैं जैसे सोल्यूसन (solution) में हों। प्रायः वह प्रेरक (motive) जिनका उद्गम मूल-

प्रवृत्तिशील हैं, अपनेको उन मूलप्रवृत्तिशील गतियोंके द्वारा प्रदर्शित नहीं करते जो मौलिक रूपसे मूलप्रवृत्तिके अनुरूप हैं। दूसरे शब्दोंमें, हमारी वर्त्तमान प्रकृति प्राथमिक आवेगोंके बीच सन्तुलन नहीं है वरन् इसमें एक नया संयोग है जिसमें आवेगोंका मौलिक रूप बदला जा सकता है। इस तर्कके तात्पर्यका अच्छा उदाहरण युद्धमें मिल सकता है। निश्चय ही युद्धकी उमंग मूलप्रवृत्तियोंका केवल समूह नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि भ्रमण आवेग (migratory impulse), लूटनेका आवेग, प्रदर्शन आवेग, काम-प्रवृत्ति, और भयके संवेगको इसमें सम्बद्ध किया जा सकता है। परन्तु यह तथा अन्य सब बहुत सामान्य रूपमें आते और एक नया संयोग बनाते हैं जिसका सार शक्ति प्रयोगके लिए एक प्रकारकी लालसा और मद मालूम होता है। युद्ध केवल हिंसाकी मूलप्रवृत्तिका जागृत करनेवाला नहीं है। इसमें सन्देह है कि यह मनुष्यकी मौलिक मूलप्रवृत्ति है क्योंकि शिकार करनेकी आदत उपार्जित (acquired) मालूम होती है और मनुष्यके सबसे निकट सम्बन्धी सांघातिककी अपेक्षा सामाजिक मालूम होते हैं। होता क्या है कि युद्धकी उमंग उन प्राथमिक मूलप्रवृत्तियोंको काममें लाती है, जो हममें अवशेष हैं, यद्यपि कुछ परिमार्जित रूपमें है। मनुष्यके प्रेरक आश्चर्यजनक रूपमें जटिल होते हैं और बहुत ही कभी इसके उद्गमका पता एक ऐसी मूलप्रवृत्तिमें लगता है जो अपने मौलिक रूपमें अवशेष हो।

चरित्र निर्माणमें व्यक्तिकी केवल पैतृक धारणाएं ही महत्व नहीं रखतीं। सामाजिक रुढ़ि द्वारा दिए गए माध्यममें हम कार्य करते हैं, और वह उस विधिको निश्चित करती है जिसके द्वारा हमारी विभिन्न पैतृक प्रवृत्तियां सन्तुष्ट हो सकें। एक अर्थमें यह व्यक्तिगत क्रियाकी स्थायी निश्चयकर्त्री है और उसी प्रकार क्रियाशील होती है जैसे सरलतर (simpler) जीवधारियोंमें वंश परम्परा क्रियाशील होती है। पैतृक-प्राप्ति और सामाजिक रुढ़ियोंके ऊपर व्यक्तिका अनुभव आ जाता है और इसका परिणाम पृथक विभागोंसे निर्मित एक सम्पूर्ण होता है जिनसे मौलिक उग्दमोंको अलग करना और उनके साथ इकाइयोंकी भांति व्यवहार करना अत्यन्त कठिन है। अतः हमें प्रोफ़ेसर हॉबहाउसके साथ मानना चाहिए कि मनुष्यमें विशुद्ध मूलप्रवृत्ति जैसी चीज़ बहुत कम है, केवल इसलिए नहीं कि

मनुष्य विचार और आलोचना करने तथा अपने शेष व्यक्तित्व और दूसरोंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेमें समर्थ है, वरन् इसलिए कि उसका व्यवहार शायद ही कभी उन स्थिर और विशिष्ट मूलप्रवृत्तियोंसे निश्चित होता है, जैसे वह अनुभवके पूर्व और सामाजिक रुढ़ियोंसे स्वतंत्र स्थितिमें रहे होंगे। "निस्सन्देह भूख-प्यास मूलप्रवृत्तिकी प्रकृतिकी है, परन्तु भूख-प्यासको सन्तुष्ट करनेकी विधियां अनुभव या शिक्षासे प्राप्त की जाती हैं। स्नेह और सम्पूर्ण कौटुम्बिक जीवनका एक मूलप्रावृत्तिक आधार है, अर्थात् वह मस्तिष्क और नाड़ी रचना (nerve structure) के सहित कुलक्रमसे प्राप्त प्रवृत्तियों पर आश्रित हैं; परन्तु जिन बातोंका सम्बन्ध इन आवेगों के सन्तोषसे है वह व्यक्तिके अनुभव, उसका समाज, उसकी विधियां (laws) और आचार (customs), जिस स्त्रीसे वह मिलता है उनके सहवासकी घटनाओं आदिसे निश्चित होती हैं।" ("मॉरल्स इन इवोल्यूशन" पृष्ठ ११)। उस व्यवहारकी सीमा जो कामप्रवृत्ति या आत्मगौरवको आवेगके अन्दर संग्रहित है, बहुत विस्तृत है और उन सब प्रकारके आचरण को एक सरल मूलप्रवृत्तिकी समरूप क्रियाशीलतासे सम्बद्ध करनेसे उस समस्या पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। हमें व्यक्तिके सम्पूर्ण मस्तिष्कको उसके वातावरणके सम्बन्धमें देखना चाहिए, और उस सम्पूर्णमें परम्परा प्राप्त रुझानों (properties) को केवल सम्भाव्यताएं (potentialities) समझना चाहिए, जो सामाजिक वातावरण या व्यक्तिके अनुभवके द्वारा सिद्ध होती हैं। "क्षमता, रुझान और प्रकृति मनुष्यमें पैतृक हैं परस्पर अन्तः क्रियाओं और चारों ओरके वातावरणके व्याप्त प्रभावके द्वारा क्षमता पूर्ण की जाती, रुझान उत्साहित की जाती या रोकी जाती, और प्रकृतिका विकास या निग्रह होता है। सच्ची मूलप्रवृत्तिके तत्व रहते हैं परन्तु विनाश की दशामें। मनुष्य प्रकृतिमें परम्परा अपने आप क्रियाशील नहीं होती वरन् हर जगह समीकरण, पूर्वज्ञान तथा शासनकी क्षमताके सहित अन्तः क्रिया में क्रियाशील होता है," ("माइंड इन इवोल्यूशन" पृष्ठ १०५)। उपरोक्त विवादके निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं:

१. मनुष्य व्यवहार ऐसी विशेषताएं प्रदर्शित करता है जो इसे इतिहास अथवा प्राणिविद्याकी दृष्टिसे पशु व्यवहारके क्रममें ही लगा देती हैं।

२. मनुष्य चरित्रका आधार अधिकतर पैतृक है। दूसरे शब्दोंमें, हमारी रुचियां अधिकतर तनाव (tension) की उन मौलिक भावनाओंसे निश्चित होती हैं जो मूलप्रवृत्तिके हृदय (core) को बनाती हैं।

३. लेकिन (क) पैतृक धारणाएं आत्म जीवित नहीं होतीं, वरन् एक दूसरेको निश्चित करतीं और सुधारती हैं, जिससे वह मनुष्यमें मिश्रित, कटे-छंटे और अधूरे रूपमें दिखाई पड़ती हैं।

(ख) जब कि पैतृक आधार स्थायी है, व्यक्तिके अनुभव और जिन सामाजिक रुढ़ियोंके अन्दर वह पलता है, उनके अनुसार मूलप्रवृतियोंको प्रदर्शित करनेके प्रकार बहुत भिन्न होंगे। यदि हम रुढ़ि आचार विधि (convention) आदिकी शक्तिको सामाजिक परम्पराका नाम दें और मूलप्रवृत्तिकी शक्तिको प्राणिविद्या सम्बन्धी परम्पराका नाम दें तो हम कह सकते हैं कि आचरणकी किसी विशेष दिशाकी व्याख्या करनेके लिए हमें उस व्यक्ति या समूहके, जिसके आचरण पर विचार हो रहा है, अनुभवकी दिशाके साथ अन्तःक्रियामें, प्रत्येकका ठीक प्रभाव जाननेकी आवश्यकता है।

अब हम सामाजिक सिद्धान्तमें मूलप्रवृत्तियोके स्थान पर विचार करने की स्थितिमें हैं।

*

अध्याय २

समाज में मूलप्रवृत्ति

हालके सामाजिक साहित्य प्रेमियों (Phenomena) की व्याख्या करनेमें एक विशेष प्रवृत्ति यह दिखाई पड़ रही है कि यह मूलप्रवृत्तियों या आवेगोंके सम्बन्धमें की जाती है। व्याख्याकी विधिके अनेकों रूप हैं। कुछ लेखक जैसे डा० मैक्ड्यूगल अपनी व्याख्याको कुछ प्रारम्भिक मूल-प्रवृत्तियोंकी क्रिया पर आश्रित करते हैं जैसे, आत्मगौरव और दैन्यवृत्ति के आवेग वात्सल्यके संवेगके प्रारम्भिक उद्देश्यसे आगे विस्तारके द्वारा परोपकारका विकास जैसे अपने बच्चेके स्नेहसे औरोंमें स्नेहका विस्तार होना। अन्य लेखक किसी अन्य मूलप्रवृत्तिको मौलिक रूपमें प्रधान मानकर उस पर जोर देते हैं जैसे डा० ट्रॉटर (Trotter) सामूहिक (gregarious) मूलवृत्तियोंको सम्पूर्ण जीवनका आधार मानते हैं। अन्य लेखक अनुकरण संकेत (suggestion) और सहानुभूतिकी बनावटी मूल-प्रवृत्तियों पर ध्यान देते हैं। यहां इन सिद्धान्तों पर इसी क्रमसे विचार करना सर्वोत्तम होगा यद्यपि इतिहासकी दृष्टिसे अनुकरण-संकेत सिद्धान्त सर्वप्रथम आते हैं।

१. डा० मैक्ड्यूगल सामाजिक भावनाका आधार वात्सल्य संवेगमें मानते हैं यह पुत्र-कामना (parental) मूलप्रवृत्तिके साथ आनेवाला विशेष संवेग है या इसका उत्तेजक अंग है। इसके मूलमें यह मातृक (maternal) था, परन्तु अन्य बहुत सी बातोंके साथ यह भी पुरुष को दे दिया गया और अधिक विशेषता इस बात की है कि रक्षक प्रवृत्ति और वात्सल्य संवेग, जब हम किसी निर्बल या अरक्षित जीवके साथ दुर्व्यवहार होते देखते या सुनते हैं तो विस्तारके द्वारा आ जाते हैं। यहां मैक्ड्यूगल को सारे अन्य-

भी जब रोका जाता है या इसमें बाधा पड़ती है तो क्रोधके संवेगके सहित युयुत्सा और कलहके आवेगोंको जागृत कर देता है। यहां डा० मैक्ड्यूगलको स्वार्थरहित या नैतिक क्रोध या रोषका उद्गम मिल जाता है।

इस स्थितिके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं। पहले तो सामाजिक आवेगोंको तद्भव (derivatives) माननेका कोई कारण नहीं है। वह अन्य आवेगोंकी भांति जागृत होते हैं और इसी भांति उनका वही प्राणिविद्या सम्बन्धी मूल्य है, जैसे अतिजीवन (survival) मूल्य। वह जटिल नई प्रतिक्रिया हैं और सम्भवतया पुरानी भावनाओंके केवल विस्तार नहीं हैं। कुछ भी हो, उनमें वह तत्व मालूम होते हैं जो प्रकारमें कौटुम्बिक स्नेहसे भिन्न हैं। उनमें रक्तका निकट सम्बन्ध नहीं है और वात्सल्य संवेग की अपेक्षा, जो कि एक ही कुटुम्बके सदस्योंमें होता है, विकास और स्थानान्तर (transference) के अधिक योग्य हैं।

दूसरे, मैक्ड्यूगलके स्वार्थरहित कार्यकी सम्पूर्ण समस्याके विरुद्ध आक्षेप किया जा सकता है। उनका यह विचार मालूम पड़ता है कि आत्म-सम्बन्धी आवेगोंकी अपेक्षा अन्य सम्बन्धी आवेगोंकी व्याख्याकी अधिक आवश्यकता है। परन्तु वर्त्तमान प्राणिविद्या और तुलनात्मक मनोविज्ञानकी यह प्रवृत्ति है कि वह दोनों प्रकारकी मूलप्रवृत्तियोंको समानरूपसे मौलिक या प्रारम्भिक मानते हैं। हम कह सकते हैं कि सब आवेग अपने उद्देश्यकी ओर निर्दिष्ट रहते हैं। वह अपनेको वा दूसरेको लाभ पहुंचाते हैं, यह प्रश्न विकासकी अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था पर ही उठ सकता है और यदि हम आवेगोंकी उन्नतिकी ओर देखेंगे तो पता चलेगा कि वह सर्वथा आत्मश्लाघी (egoistic) नहीं हो सकते। जिस क्षणसे मनुष्य सामाजिक प्राणी बनता है उसी क्षणसे उसके लिए सामाजिक जीवन बहुमूल्य वस्तु हो जाती है। अति जीवन (survival) के दृष्टिकोणसे सामाजिक मूलप्रवृत्तियां उतनी ही आवश्यक हैं जितनी कि वह जिनसे व्यक्तिका सम्बन्ध है। सामाजिक कार्यका उद्गम दूसरे व्यक्तियोंकी उत्तेजना (stimulus) की प्रतिक्रिया है और इसकी प्रकृति परिस्थितिके साथ बदलेगी और अन्य प्रतिक्रियाओंकी भांति अतिजीवन-मूल्यसे निश्चित होगी। वास्तवमें स्वार्थरहित कार्यकी समस्याका कारण प्राथमिक कार्यमें मननशील विचारोंको

ग्रहण करना है परन्तु यदि हम स्मरण रक्खें कि सब आवेग प्रत्यक्ष रूपसे अपने उद्देश्यों पर निर्दिष्ट होते हैं और जीवधारीके आनन्द या भलाईकी प्राप्ति के लिए नहीं, तो हम श्री शैंडके साथ कह सकते हैं कि "प्रत्येक संवेगमें कुछ सम्भाव्य (potential) निःस्वार्थता होती है, जहां तक इसको उत्तेजित करनेवाली उत्तेजनाओंमें कुछ ऐसी हैं जो इसको अपने बदले दूसरे व्यक्तिके लिए उत्तेजित करती हैं।" कुछ भी हो, सब निस्वार्थ कार्योंका मूल वात्सल्य संवेग नहीं हो सकता, जैसे कीड़ा अपनी उस सन्तानके लिए कार्य करता है जिसे उसने कभी नहीं देखा, और न देख सकता है, और अपने अंडोंको ऐसी जगह रखता है जहां डिम्भोंको भोजन मिल सके और वह सुरक्षित रहें। जैसा कि श्री शैंड कहते हैं, क्या हम कहें कि कीड़ेमें वात्सल्य संवेग है ? और अधिक विकसित स्थायी भावों, (sentiments) जैसे ज्ञान या सुन्दरता का प्रेमके सम्बन्धमें क्या कह सकते हैं ? क्या उनका कारण वात्सल्य संवेग है ? मैक्ड्यूगलके विचारसे रक्षक आवेगोंके खण्डन या निग्रहके समय वात्सल्य संवेग और क्रोध या रोषका जागृत होना ही नैतिक आचरणमें केवल सम्मिलित नहीं है वरन् आत्मगौरव और दैन्यवृत्तिकी दो प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियां भी सम्मिलित हैं। अपनी जातिके नियमोंको ग्रहण करनेकी तत्परता प्रभुत्व (recognized authority) की अधीनता मानना जनमत से शासित होना, यह सब मैक्ड्यूगलकी रायमें आत्मसम्बन्धी स्थायीभाव में निषेधात्मक आत्मभावनाका सम्मिलित होना और परिणामस्वरूप इसका अनुसरण करनेवाली उदाहरण सीखनेकी भावना तथा अपने गुरुजनों द्वारा की गई प्रशंसा या बुराईसे प्रभावित होना है। इसमें दंडका प्रभाव, और बादमें दंडकी धमकी जो अपने साथ भयका तत्व लाती है, जोड़ दी जाती है; यह हमारी संवेगशील धारणाको रंगती और जटिल धारणाका एक सम्पूर्ण तत्व बना देती है। प्रभुत्व या शक्तिका प्रभाव और क्रियाशील सहानुभूति का आवेग जो व्यक्तिको अपने चारों ओरके लोगोंको खुश करनेवाले आचरणमें संतोष ढूंढने और उस आचरणको त्यागनेमें जिसमें उनकी अस्वीकृति हो, बाध्य कर देता है। इन बातोंमें आत्मसम्बन्धी स्थायीभावकी नैतिकता (moralization) होती है। नैतिकताकी प्रणालीमें आत्मगौरवकी प्रवृत्तियां शिथिल नहीं होती। इसके विपरीत जैसे व्यक्ति बढ़ता जाता है

वह धीरे-धीरे अपने कंधे पर उसके जुएके भारको कम करता जाता है जो एक समय उसके गुरुजन थे और जिन्होंने उसकी निषेधात्मक आत्मभावना को जागृत किया था, तथा वह अपनी विस्तृत होती हुई दुनियामें नये गुरुजन ढूंढ लेता है। अधिकांश उदाहरणोंमें अत्यधिक प्रतिष्ठा और गुरुत्व के कारण सामाजिक समूह अपनी प्रधानता रक्खे रहता है,परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनको जब अनुभवसे यह पता लगता है कि नियमसंहिता विभिन्न हैं और एक समूहमें स्वीकृत कार्य दूसरेमें अस्वीकृत होते हैं तो वह मनुष्य समूहके मत और विचारोंके प्रति घृणा करने लगते हैं और अपने वैयक्तिक तथा नैतिक निर्णयोंपर आश्रित रहने लगते हैं और दूसरोंके मत से शासित नहीं होते, तथा वह दृढ़ता, आत्मसम्मान और तत्सम्बन्धी स्वतंत्रता प्राप्त करते हैं जो नैतिक जीवनका सबसे ऊंचा रूप है। नैतिक उन्नति "आत्मसम्बन्धी स्थायीभावके विकासमें और उस 'चित्रशाला' की उन्नति और परिमार्जन में है, जिसके सामने हम अपनेको प्रदर्शित करते हैं, अर्थात् वह सामाजिक समूह जो कि हममें आत्म प्रदर्शनकी प्रवृत्ति जागृत करने में समर्थ है; यह परिमार्जन तब तक चालू रक्खा जा सकता है जब तक कि यह 'चित्रशाला' आदर्श दर्शक न बन जाये, या और कुछ हो तो व्यक्तिका अपना आलोचक स्वयं (self) दर्शकोंका प्रतिनिधि बन जाय।"

हमारा यहां आचारनीति (ethics) के उस सिद्धान्तसे सम्बन्ध नहीं है जो नैतिक और सामाजिक जीवनके विकासके इस वर्णनमें उपलक्षित है। जो विस्तृत वर्णन डा० मैक्ड्यूगलने दिया है उसके बहुमूल्य होने तथा वह जिसको उन्होंने आत्म-सम्बन्धी स्थायीभाव कहा है, उसके महत्व में संदेह नहीं हो सकता। परन्तु वर्णन व्याख्या नहीं है। यदि हम यह कहें कि प्रभुत्वके अधीन होना अधीनताकी मूलप्रवृत्ति और निषेधात्मक आत्म-भावनाके कारण है तो मुझे तो यह ऐसा ही लगता है जैसे हम कहें कि लोग अधीन होते हैं क्योंकि वह अधीन हैं। उपरोक्त मूलप्रवृत्ति, यदि यह मूलप्रवृत्ति है जैसा कि ऊपर ज़ोर दिया गया है, व्यवहारकी अनेक विभिन्न विधियोंका एक जातीय नाम है, जिसमें एक साधारण तत्व है परन्तु केवल नाम दे देनेसे व्याख्या नहीं हो जाती। दूसरे मूलप्रवृत्तियोंके सम्बन्ध में, जहां तक कि उनका सामाजिक जीवनसे व्यवहार है, वास्तविक समस्या

उनके प्रयोगके विस्तार और प्रदर्शन-विधियोंकी है। इस सम्बन्धमें यह जानना चाहते हैं कि विशेष समाजोंमें कुछ नियम-संहिता (codes) क्यों बन जाती हैं, और उन्हींको सम्मान मिलता है, तथा इस समस्या पर एक पूर्णतया सामान्य आवेगको संकेत कर देनेसे कोई लाभ नहीं। मैक्ड्यूगल के सामाजिक जीवनके वर्णनमें प्रभुत्व और अधीनताकी मूलप्रवृत्तियों पर ज़ोर है, उन पर आश्रित शुद्ध सामाजिक आवेगों और उन पर आश्रित जातीय अर्थको बिल्कुल ही छोड़ दिया मालूम होता है। मैक्ड्यूगलने सामूहिक (gregarious) आवेगको निर्दिष्ट तो अवश्य किया है परन्तु वह इसको केवल झुंड बनानेका आवेग मानते हैं। क्या साथ काम करने, साथ रहनेके आवेग नहीं होता?

२. डा० मैक्ड्यूगलसे विपरीत, डा० ट्रॉटर सामूहिक आवेग पर बहुत ज़ोर देते हैं। यह प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्तिके अन्य साथियोंके व्यवहारके शीघ्रबोध (sensitiveness) में और सदा झुंड (herd) के अन्दर या साथ रहनेके आवेगमें ही केवल नहीं दिखाई देता वरन् समूहके सदस्योंके मानसिक स्वरूपके गहन रूपान्तरमें भी दिखाई देती है। झुंड या उसके अधिकारी वर्गसे आनेवाली प्रत्येक बातके लिए वह उनको संकेतयोग्य (suggestible) कर देता है और इसका महत्व इस बातमें है कि यह समूहमें विकसित मतों, नियमों और आदर्शोंको एक प्रकारकी मूलप्रावृत्तिक आज्ञप्ति (sanction) दे देता है। यह दिखाना सरल है कि मनुष्योंके अधिकांश मतोंका कोई विवेकमय आधार नहीं होता है। यद्यपि उनको माननेवालों के लिए उसमें अतिशय निर्णयात्मकता (convincingness) और निश्चय होता है। डा० ट्रॉटर तर्क करते हैं कि यह गुण झुंड संकेत (herd-suggestion) का परिणाम है, और इस प्रकार बिल्कुल झूठे मत भी विवेकके द्वारा प्रमाणित सत्योंकी सब विशेषताओंसे पूर्ण होजाते हैं, वे यद्यपि उस दशामें मस्तिष्क "विवेकपूर्वक व्याख्या" (rationalization) की गौण प्रणाली द्वारा उसको उचित ठहरानेकी चेष्टा कहते हैं।

यह माना जाता है कि नीति (morality) की सम्पूर्ण पद्धति, प्रभुत्व-शक्ति, आचारविधि (conventions) और आदर्शोंका प्रभाव, सब

अन्तमें सामूहिक प्रभावके कारण है। समूहकी अस्वीकृतिके द्वारा जागृत कष्टका ज्ञान चेतना है, और धर्म इस बात पर आश्रित यूथचारी (gregarious) जातिका जीवका वास्तवमें कभी भी स्वतंत्र और आत्म निर्भर नहीं हो सकता। अतः वह और पूर्णतः और संयोगके लिए उस उत्कंठाका अनुभव करने लगता है जो धार्मिक स्थायीभाव (sentiment) का सार है।

हम यहां डा० ट्रॉटरके बुद्धिमत्ता पूर्ण और हृदयग्राही तर्कों तथा उदाहरणोंकी उस प्रचुरताके साथ उनके विवरणमें है, न्याय नहीं कर सकते। परन्तु यह भावना रोकना कठिन है कि उनकी पुस्तकमें डा० मैक्ड्यूगल* के वर्णनसे भी कहीं अधिक अति-सरलता (oversimplification) का दोष है। डा० ट्रॉटर स्वयं मानते हैं कि झुंड-मूलप्रवृत्ति (herd-instinct) उसी प्रकारकी मूलप्रवृत्ति नहीं है जैसे आहार, उत्पादन और आत्मरक्षाकी मूलप्रवृत्ति। परन्तु यह पद अनेकों विभिन्न बातोंके वर्णन करनेके प्रयोगमें आता है। संकेत योग्यता (suggestibility) का कारण सदैव सामूहिक मूलप्रवृत्तिके शब्दोंमें नहीं बताया जा सकता और विभिन्न परिस्थितियोंमें यह विभिन्न प्रेरकों (motives) को प्रभावित करती है, इस बातके माननेका कारण है यह हम पीछे देखेंगे। जो कुछ भी हो जहां तक झुंड-मूलप्रवृत्ति एक मूलप्रवृत्ति है इसको प्रभावित करनेमें व्याख्या-योग्य मूल्य क्या है, यह समझमें नहीं आता। कुछ मत झुंडका सम्मान क्यों प्राप्त कर लेते हैं? हमें बताया गया है कि संकेत-योग्यताके अन्तरोंका कारण अन्तरोंकी उस मात्रामें है जिसमें झुंडकी आवाजके समान संकेत किये जाते हैं (पृष्ठ ३३)। परन्तु निश्चय ही यह मात्राके वह अन्तर हैं जिनका कारण बतानेकी आवश्यकता है और इस सम्बन्धमें हमारे सामने वह समस्या है जिस पर शुद्ध सामान्य झुंड मूलप्रवृत्ति कुछ भी प्रकाश नहीं डाल सकती।

यह विचारधारा केवल प्रारम्भिक मूलप्रवृत्तियोंके संदर्भमें सामाजिक जीवनकी व्याख्या करनेके सम्पूर्ण प्रयत्नकी आलोचनाको संकेत करती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि मूलप्रवृत्तियां अपने मौलिक निश्चय रूपमें नहीं

---

* विशेषकर यह स्मरण रखना चाहिए कि मैक्ड्यूगल मानसिक विकासकी सब श्रेणियोंको स्थान अवश्य देते हैं।

बचतीं, वरन् उनका झुकाव ऐकीकरण (integration) की ओर रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक जीवन मूलप्रवृत्तियोंका केवल एक सन्तुलन नहीं। वरन् एक नया उत्पादन या संकलन है जिसमें मूल-प्रवृत्तियोंका बहुत रूपान्तर हो गया है। अतः सामाजिक जीवनकी एक या अनेक मूलप्रवृत्तियोंके शब्दोंमें व्याख्या करना एक आपत्तिजनक प्रणाली है। इसके अतिरिक्त यद्यपि मनुष्यका आचरण और चरित्र पैतृक आवेगों पर आश्रित है, परन्तु जिस प्रकारसे यह आवेग अपना प्रदर्शन करते हैं वह बुद्धि, अनुभव सामाजिक रूढ़ियों पर आश्रित है। अतः यह तीनों बहुत महत्व-शाली हैं। उदाहरणके लिए, जब हमें बताया जाता है कि युद्ध भय अथवा सांघातिक (aggressive) मूलप्रवृत्तिका परिणाम है, तो वास्तवमें किसी विशेष युद्धको समझानेके लिए बहुत कम बताया गया है। लोगोंमें शत्रुता होनेका आधार मूलप्रवृत्तिशील अवश्य है, परन्तु वह अपने विशेष प्रदर्शनों में बहुत सी जटिल रुचियों (interests) पर आश्रित हैं, जिनमें अनुभव और बुद्धि सम्मिलित हैं, यद्यपि वह विवेकसे बहुत दूर हैं। किसी विशेष शत्रुताका कारण बतानेके लिए हमें उन लोगोंका इतिहास, उनकी रूढ़ियां (traditions) उनके सामाजिक आदर्श और संस्थाएं जाननी चाहिए, और इन पर शुद्ध सामान्य मूलप्रावृत्तिक धारणाएं बिल्कुल प्रकाश नहीं डालतीं। निःस्सन्देह भय एक प्रमुख कारण है, इसी प्रकार सहानुभूति और सामूहिकता भी है; परन्तु इन संवेगों और आवेगोंके प्रयोगका विस्तार तथा इनके प्रदर्शन के प्रकार अनिश्चित हैं, जिनका विस्तार और संकोच हो सकता है, और यह अनेक तथा विभिन्न धाराओंमें बह सकते हैं, तथा जो विशेष दिशा वह ग्रहण करते हैं वह सामाजिक मर्यादाओं (standards) आचार विधियों और संस्थाओं, आदत और शिक्षण पर, या संक्षेप में व्यक्ति और जातिके अनुभव पर आश्रित हैं। समाज विज्ञान (sociology) की वास्तविक समस्याएं मूलप्रवृत्ति-सम्प्रदाय (instinct school) के लेखकोंने बिना हल किये ही छोड़ दी हैं। यह जानना कदाचित् सहायक हो कि सम्पत्ति-संस्थाका आधार संग्रह या प्राप्त करने (collective or acquisitive) की मूल-प्रवृत्तिमें है, परन्तु जो हम जानना चाहते हैं उसके विषयमें कुछ भी नहीं बताती, जैसे सम्पत्तिके उस विभिन्न रूपके सम्बन्धमें जो वह विभिन्न सामा-

जिक संगठनोंमें धारण करती है। इसी प्रकार दण्डके अन्दर क्रोधका प्राथमिक संवेग सम्मिलित हो सकता है और सामान्यतया हमारी नैतिक चेतना (consciousness) और विशेषकर नैतिक निन्दामें प्राथमिक आवेगके उससे अधिक तत्व हैं जितने कि हम मानना चाहते हैं, आत्मगौरव और आत्मश्लाधा (self-exaltation) के तत्व आक्रमण और झुंड-संकेतके तत्व, और उनके प्रभावको प्रकाशमें लाना मनुष्य जीवनको समझनेमें बहुत सहायक है, परन्तु सम्पूर्ण व्याख्याके रूपमें तो वह बिल्कुल अपर्याप्त हैं।

३. समाजका संकेत-अनुकरण (Suggestion-Imitation) **सिद्धान्त.** यह सिद्धान्त सबसे पहले १८७३ में बेजहॉट (Bagehot) ने अपनी पुस्तक "फ़िज़िक्स ऐंड पॉलिटक्स" में लिखा था, और फिर इसका अधिक विस्तृत विकास १८९६ में टार्ड (Tarde) ने अपनी 'लोइ डि लिमिटेशन" (Lois de Limitation) में किया, और फिर अधिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बाल्डविन (Baldwin) ने। बेजहॉट ने सिखाया कि अनुकरण प्राचीन समाजको सांचेमें ढालनेकी शक्ति थी और अब भी यह सामाजिक नियमोंमें सबसे प्रधान है। "सबसे पहले दैवयोगकी प्रबलता से एक नमूना बनता है, फिर अजेय आकर्षण, आवश्यकता, जो सबसे शक्तिशाली मनुष्योंके अतिरिक्त सब पर इस बातके लिए शासन करती है कि वह जो कुछ दृष्टिगोचर है उसका अनुकरण करें, उनसे जो बननेकी आशा की जाती है वह बनें। अर्थात् उस नमूनेके सांचेमें ढाले गये व्यक्ति बनें।" बेजहॉट ने दिखाया है कि इस प्रकारकी अनुकरण-प्रणाली जीवनके सब क्षेत्रोंमें चलती रहती है। उनकी रायमें वेशभूषामें, साहित्यिक लेखन पद्धतिमें, बोर्डिंग-स्कूलकी आदतोंमें, यहां तक कि राजनीति और धर्म में भी फ़ैशनका कारण कोई अनायास आने वाला संकेत है, जो कि उन्हें अच्छा लग गया। बेजहॉट के अनुसार यह अनुकरण अनैच्छिक और अचेतन है और इतना दृढ़ है कि जब हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा अनुकरण असफल हुआ तो हमें दुःख होता है। "अधिक मनुष्य फूहड़पनकी अपेक्षा दुष्टता करनेके दोषी होना पसन्द करेंगे।" दूसरे शब्दोंमें विशेष आचार-व्यवहार (manners) का बुरी तरह अनुकरण करना अपमान समझा जाता है, क्योंकि यह बुरा अनुकरण है, यह कहनेके अतिरिक्त कि अनुकरणकी

प्रकृति मुख्यतया अचेतन और अनैच्छिक है और "हमारी प्रकृतिके अनुकरण अंगका मुख्य स्थान हमारा विश्वास है"। बेजहॉट इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं देते। इससे पता चलता है कि अनुकरणके अन्दर उन्होंने उसे सम्मिलित नहीं किया, जिसे अब अधिकतर संकेत कहते हैं। बेजहॉट ने अपने सिद्धान्तके अनेक बुद्धिमत्तापूर्ण और रुचिकर उदाहरण दिये हैं और वह इस बात पर ज़ोर देनेकी ग़लती नहीं करते कि केवल अनुकरण ही सामाजिक सिद्धान्तमें महत्वशाली नियम है। वह दिखाते हैं कि अनुकरण एक दृढ़ स्थिति पालक (conservative) शक्ति है जो पुराने आचारों (customs) के ग्रहणकी ओर ले जाती है। यदि हम पूछें कि उन्नति कभी भी कैसे होती है तो उसका उत्तर है कि यह दूसरी प्रवृत्तिके कारण है, वाद विवादकी प्रवृत्ति, जो प्रत्येक उन्नतिशील जातिमें दिखाई पड़ती है। इससे मौलिकता उत्साहित होती और बुद्धिमत्ताकी वृद्धि होती है, तथा यह सहनशीलता और स्वतन्त्र विचार भी सिखाता है। बेजहॉट ने एक बुद्धिमत्तापूर्ण अध्याय (The Age of Discussion) में दिखाया है कि उन्नति केवल उन्हीं देशोंने की जिन्होंने वादविवादके द्वारा शासन (सरकार) का नियम जल्दी ही ग्रहण कर लिया था।

टार्डे का अनुकरण सिद्धान्त जिसको उन्होंने सामाजिक जीवनका आधार नियम माना है, बेजहॉट की "फ़िज़िक्स ऐंड पॉलिटिक्स" से स्वतन्त्र रूपमें कार्यान्वित हुआ मालूम होता है। यह पूर्णरूपमें वास्तविकके सामान्य दार्शनिक-सिद्धान्तका अंग है और टार्डे ने इसका प्रयोग सामाजिक खोजके लगभग सब क्षेत्रोंमें आश्चर्यजनक सफलताके साथ किया है। टार्डे के सिद्धान्तको विस्तारसे बतानेका यहां कोई प्रयत्न नहीं किया जा सकता, केवल उसकी विशेष बातोंका संक्षेप ही दिया जा सकता है। टार्डे को ज्ञात हुआ कि सामाजिक प्रणाली एक समूहके सदस्योंकी मानसिक अन्तःक्रियामें रहती है। इस अन्तःक्रियाके तीन रूप होते हैं, पुनरावृत्ति, विरोध और अनुकूलता (adaptation)। यह नियम समाज विज्ञानकी असाधारणता नहीं हैं बल्कि यह "वह तीन तालियां हैं जिनका प्रयोग विज्ञान विश्वके रहस्य (arcana) को खोलनेके लिए करता है।" यह सारे प्रमेयों (phenomena) के सारभत स्वरूप हैं। "पुनरावृत्तिके तीन रूप हैं!

अस्थिरता (undulation) इसके भौतिक रूपका उदाहरण है, वायुकी भांति लचोले माध्यममें से ध्वनि लहरोंका निकास; वंश परम्परा, इसका प्राणिविद्या सम्बन्धी रूप जिसके द्वारा जीवधारी पीढ़ी दर पीढ़ी अपने जीवनकी पुनरावृत्ति करते हैं। और अन्तिम अनुकरण, इसका सामाजिक रूप जिस पर समाज आश्रित है। इसी प्रकार विरोधके भी भौतिक (physical), प्राणिविद्या-सम्बन्धी (biological) और सामाजिक रूप हैं। सामाजिक रूपमें युद्ध, प्रतियोगिता और वादविवाद हैं" (Davis, "Psychological Interpretation of Society." पृष्ठ १२०)। इन तीनोंका अन्योन्य सम्बन्धी महत्त्व टार्डे ने निम्नलिखित खंडमें संग्रहीत किया है: "यह तीन पद वृत्ताकार श्रेणी बनाते हैं, जो बिना रुके आगे बढ़ते जानेमें समर्थ हैं। यह अनुकारी पुनरावृत्ति (initiative repetition) है जिसके द्वारा अन्वेषण, सारभूत सामाजिक अनुकूलता फैलती और दृढ़ होती है, और इन अनुकारी किरणों में से एक किसी नये या पुराने अन्वेषणमें से निकलने वाली अनुकारी किरण से मिलकर नये संघर्ष जागृत करनेको या अधिक जटिल अन्वेषणोंको निकालनेको प्रवृत्त होती है, जो कि जल्दी ही अपनी बारीमें अनुकारी रूप में आभा दिखाने लगते हैं, और इस प्रकार सदा होता ही रहता है...इस प्रकार जो तीन शब्दोंकी तुलना की गई है, उनमें से पहले और तीसरे, दूसरेकी अपेक्षा, ऊंचाई, गहराई, महत्त्व और सम्भवतया दीर्घ स्थायित्वमें भी अधिक आगे निकल जाते हैं। दूसरे—विरोध—का अकेला मूल्य है, अन्वेषण करनेकी प्रतिभाको जागृत करने योग्य विरोधी शक्तियोंके तनाव को जागृत करना" ("Social Laws" १३५—१३७)।

समाजके सम्बन्धमें हम कह सकते हैं कि महत्वपूर्ण प्रणालियां जिनके द्वारा सब जटिल प्रमेयों (phenomena) का अन्तमें विश्लेषण हो सकता है, वह हैं अनुकरण (एक प्रकारकी पुनरावृत्ति) और अन्वेषण (अनुकूलता)। वैयक्तिक अन्वेषणको दूसरों तक पहुंचाने और फैलाने वाला अनुकरण समाजकी आवश्यक विशेषता है। उन्नतिका उद्गम अन्वेषण है अर्थात् उन विचारों और कार्योंका ग्रहण जो दूसरोंके कार्यों और विचारोंके प्रतिरूप हों। सामाजिक प्रणाली सदृशों (similars) के उत्पादनकी

है (अरस्तूके "सदृशोंसे राज्य नहीं बनते" से अन्तर देखिये), अर्थात् मस्तिष्कोंमें आपसमें उस प्रकारका सम्बन्ध जिससे एक सांचेमें एक आकार के अनुसार ढालें जानेके कारण यह मस्तिष्क पहलेसे अधिक सदृश होने लगें। विचारोंमें नये सम्बन्ध देखने और अदृष्टपूर्व समानताओंको ढूंढनेकी शक्ति पर अन्वेषण शक्तिकी वृद्धि निर्भर है। टार्डे का विचार मालूम होता है कि प्रत्येक राष्ट्रकी योग्यताका विस्तार अपेक्षाकृत स्थिर होता है और यदि अन्वेषणमें ऐसी योग्यताकी आवश्यकता है जो उस राष्ट्रके लोग प्राप्त नहीं कर सकते तो वह लोग ऐसा अन्वेषण कभी नहीं कर सकते। अन्वेषणों का मूल, विशेषकर उच्चक्रमका और "महापुरुषों" का कुछ सीमा तक दैवयोगका प्रश्न है। कुछ सामाजिक अवस्थाएं अन्वेषणोंको बढ़ाती हैं, जैसे जनसंख्या। जनसंख्या जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही उच्चकोटिके व्यक्ति प्रगट होनेकी सम्भावना है। फिर सामाजिक तत्त्वोंकी एकजातीयता (homogeneity) इसको अन्वेषण और अनुकरण द्वारा औरोंमें फैलाने में सहायक होती है। तीसरी महत्वशाली बात सामाजिक संसर्ग और संचारकी समीपता है; सामाजिक दूरीके कम होनेके साथ अन्वेषणकी सम्भावना बढ़ती है।

सामाजिक सफलता या अन्वेषणका अनुकरण दो प्रकारके सामाजिक कारणों पर निर्भर है जिन्हें टार्डे ने तार्किक (logical) और अति-तार्किक (extra-logical) कहा है। पहले तो "तार्किक झगड़ा" अर्थात् प्रचलित मतों या आचार विधियोंसे असहमत या विरुद्ध होनेसे एक नया विचार अग्राह्य हो जायेगा, जैसे ऐसा सिद्धान्त जो परिणामवाद (evolution) के सामान्य नियमोंका तीव्रतासे विरोध करता है, उसकी सफलताकी अधिक सम्भावना नहीं है। दूसरे अति-तार्किक कारण तीन प्रकारके होते हैं। पहला, वह सोचता है कि अनुकरण अन्दरसे बाहर, आन्तरिकसे बाह्य होता है। "इस प्रकार, जैसे सोलहवीं शताब्दीमें वस्त्रोंमें स्पेनसे फ़ांसमें फ़ैशन आया, इसका कारण यह था कि स्पेनकी उन्नतिके समय, स्पैनिश साहित्य पहले ही फ़ांस पर लाद दिया गया था। सत्रहवीं शताब्दीमें जब फ़ांसका गौरव स्थापित हो गया और फ़ांसीसी साहित्य योरोप पर राज्य करने लगा तदनन्तर-फ़ांसीसी कला और फ़ैशनने दुनिया

का चक्कर लगाया"। संस्कारोंकी अपेक्षा मर्त और सिद्धान्तोंका अनुकरण जल्दी हो जाता है, वैध प्रणाली (legal procedure) का अनुकरण करनेके पूर्व विधि पद्धतियां (systems of law) वैध नियमों (legal principles) का एक दूसरेसे अनुकरण कर लेती हैं। यहां इस बातका कारण मिल जायेगा कि संस्कार विधि, रीति, और संगठन, मतों, नियमों या कार्योंसे जिनके वह सहायक हैं, क्यों अधिक आर्ष (archaic) हो सकते हैं।

दूसरे, नई रीति चलाने वालेकी प्रतिष्ठा बहुत महत्वकी बात है। अन्य सब बातें बराबर होने पर अनुकरण सामाजिक उच्चतासे निम्नताकी ओर बढ़ता है। धनिक वर्ग, बड़े नगर, सफल मनुष्य प्रारम्भ करते और अन्य अनुसरण करते हैं।

तीसरे, समाजकी कुछ अवस्थाओंमें भूतकाल बहुत प्रभाव डालता है। रूढ़िका सम्मान केवल इसलिए होता है कि वह रूढ़ि है। नई वस्तु नवीनता समाप्त होने पर स्वयं आचार (custom) हो जाती है। "आचारके काल फ़ैशन और रीति (modes) के कालसे बदलते रहते हैं।"

यह टार्डे के सिद्धान्तका आकारमात्र है। इसने समाज विज्ञानके लेखकों, विशेषकर रॉस को बहुत प्रभावित किया है। रॉस ने इसे प्रचलित करनेके लिए बहुत काम किया है। संकेतके प्रभाव पर अन्यके अतिरिक्त सिघेल (Sighele) और ले बां (Le Bon) और सीडीज़ (Sidis) ने भी बहुत ज़ोर दिया है। सीडीज़ तो यहां तक कहते हैं कि "संकेत योग्यता झुंडका सीमेंट, प्राचीन सामाजिक समूहकी आत्मा है...निस्सन्देह मनुष्य सामाजिक प्राणी है, परन्तु वह सामाजिक इसलिए है कि संकेत योग्य (suggestible) है," ("The Psychology of Suggestion" पृष्ठ १३०)।

मेरे विचारमें अब यह सब मानते हैं कि यद्यपि इन सिद्धान्तोंमें सत्यके तत्व हैं, वह मनोविज्ञान जिस पर यह आधारित हैं दोष पूर्ण था। टार्डे स्वयं अनुकरण शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें करते हैं, और बहुधा उन्होंने इसका प्रयोग इतना अस्पष्ट किया है कि उसके अन्दर मस्तिष्कोंके अन्योन्य व्यवहार (inter-communication) के सब रूप आ जाते हैं।

इस स्थितिमें यह स्पष्ट है कि "समाज अनुकरण है" इस कथनका अर्थ वही है जो इस सत्यमें है कि समाज आपसमें व्यवहार करने वाले अनेकों मस्तिष्कोंसे बना है। यह स्पष्ट है कि व्याख्याके नियमकी भांति, अनुकरण शब्दका प्रयोग करनेके पूर्व इसके अधिक विश्लेषणकी आवश्यकता है, और विशेषकर इस पर सहायक पदों "संकेत" और सहानुभूतिके सम्बन्धमें विचार होना आवश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिक इन तीनोंको एक प्रणाली के क्रमानुसार, गतिशील, ज्ञानात्मक और रागात्मक (affective) रूप मानते हैं, जिसे कभी-कभी, यद्यपि यह ठीक नहीं है, मानसिक आगमन (induction) कहते हैं। प्रोफ़ेसर ग्राहम वालेस (Graham Wallas) बताते हैं कि बहुधा वही दृष्टान्त कुछ विभिन्न प्रणालियोंको उदाहृत करनेके लिए दिये जाते हैं जैसे त्रासके समय भय और पलायन प्रवृत्तियोंके विस्तारका प्रयोग संवेगोंके सहानुभूतिमय आगमन (induction) में ही नहीं किया जाता, वरन् अनुकरणमें भी। इसका कारण यह है कि वास्तवमें उपरोक्त तीनों प्रवृत्तियां त्रासके समय दिखाई पड़ती हैं; आपत्तिके संकेतका संचार सरलतासे हो जाता है वहां भयके संवेगका सहानुभूतिमय आगमन (induction) और कार्योंका अनुकरण होता है। अब हम इन प्रणालियों पर क्रमानुसार विचार करेंगे।

(क) **अनुकरण.** टार्डे के लेखोंमें अनुकरण प्रायः अचेतन, अथवा लगभग प्रतिक्षेप प्रणालीकी भांति प्रदर्शित होता है और बहुतसे लेखक इसे मूलप्रवृत्तिशील कहते हैं। आधुनिक तुलनात्मक मनोविज्ञान, और विशेष कर पशु मनोविज्ञानके निरीक्षणसे पता चला है कि इसके अन्दर वास्तवमें बहुत भिन्न प्रकारकी प्रतिक्रिया सम्मिलित हैं, जिसका सम्बन्ध मानसिक विकासके बहुत विभिन्न स्वरोंसे हैं।

(१) पहले तो अनुकरणका अर्थ वह हो सकता है जिसका वर्णन बहुतसे लेखक प्राणिविद्या सम्बन्धी अनुकरण कहकर करते हैं। यह अधिकतर अचेतन है और बहुधा एक पशुके मूलप्रवृत्तिशील व्यवहारका सजातीय पशु द्वारा अनुकरण किये जानेमें होता है। डा० मैक्ड्यूगलके अनुसार "एक मूलप्रवृत्तिके उत्तेजित होने पर एक पशुका व्यवहार तुरन्त ही अपने उन साथियोंमें समान व्यवहार उत्तेजित कर देता है जो उसकी

उत्तेजनाके प्रदर्शनको देख रहे हैं। प्रत्येक प्रधान मूलप्रवृत्तिका एक ग्राही द्वार या ग्राही अन्तर्गामी अंग होता है, जो सजातीय पशुओंकी उसी मूलप्रवृत्तिके प्रदर्शनके द्वारा बने इन्द्रिय-प्रभावोंको ग्रहण और सिद्ध करनेके लिए तैयार होता है। जैसे भय मूलप्रवृत्तिमें अन्यके अतिरिक्त एक विशेष ग्राही अंग (perceptual inlet) होता है जो डरसे चिल्लानेकी आवाज़से इसे उत्तेजना-योग्य बना देता है, इसी प्रकार युयुत्सा (pugnacity) की मूलप्रवृत्तिका ग्राही अंग इसे क्रोध-गर्जनकी आवाज़से उत्तेजना योग्य बना देता है।" अतः स्पष्टतया, डा० मैक्ड्यूगल के अनुसार प्रधान मूलप्रवृत्ति में सम्मिलित नहीं किये गये कुछ अन्य कार्य उत्तेजनाकी भांति कार्य कर सकते हैं, जिससे दर्शकोंमें समान प्रतिक्रिया होने लगे। कुछ भी हो, यह विवादग्रस्त है कि युयुत्सा मूलप्रवृत्तिके सम्बन्धमें क्रुद्ध मनुष्यको देखनेसे पलायन आवेगके बदले आश्चर्यका आवेग जागृत हो जाये। इसी प्रकार अपने बच्चेको प्यार करती हुई मां को देखकर दर्शकोंमें समान व्यवहार नहीं जागृत होता। जैसे थॉर्नडाइक (Thorndike) ने कहा है: "यह आवश्यक नहीं कि वह लोग बच्चेको, मां को, एक दूसरेको, अपने बच्चोंको या अन्य किसी वस्तुको प्यार करनेके इच्छुक हो जायें।" यह भी सम्भव है कि बहुत सी स्थितियोंमें व्यवहारकी समानता, प्रत्यक्ष अनुकरणके कारण नहीं, वरन् अन्य दर्शकों पर उसी उत्तेजनाके प्रभावके कारण होती है, जिससे सबमें वही मूलप्रवृत्तिशील प्रतिक्रिया जागृत हो जाती है। फिर यह भी हो सकता है कि दूसरोंकी मूलप्रवृत्तिशील प्रतिक्रिया सिग्नल की भांति कार्य करती है और उस पदार्थकी ओर ध्यान आकृष्ट हो जाता है जो साधारणतया कार्यको करवाता है। अतः यह सुरक्षित नहीं लगता कि मूलप्रवृत्तिशील व्यवहारके प्रत्यक्ष प्रभावके सम्बन्धमें एक सामान्य नियम बना दिया जाये। यह ठीक है कि बहुतसे ऐसे काम हैं जिनका अनुकरण न्यूनाधिक मूलप्रवृत्तिशील ही क्या प्रतिक्षिप्त (reflex) भी लगता है। थॉर्नडाइकके अनुसार उनमें सम्भवतया मुस्कराये जाने पर मुस्कराना, हंसे जाने पर हंसना, चिल्लाना, जो दूसरे देख सुन रहे हैं उसे देखना सुनना, एक दिशामें भागने वालोंके साथ या पीछे भागना, बड़बड़ाना और चुप हो जाना, घुटनियों चलना, पीछा करना, धावा करना, और टुकड़े करना,

पकड़ना सम्मिलित हैं। इन सब स्थितियोंमें जिस कामका अनुकरण किया जाता है वह एक उत्तेजना है जो अनुकरण करनेवालोंमें क्रियाकी एक धारा छोड़ देती है जिसके लिए वह अपनी पैतृक रचनाके कारण पहलेसे ही तैयार हैं। अधिकांश मनोवैज्ञानिक इस बात पर सहमत मालूम होते हैं कि अनुकरण करनेकी कोई सामान्य मूलप्रवृत्ति नहीं है, वरन् केवल कुछ मूलप्रवृत्तियोंमें, जिनमें से प्रत्येकका अलग-अलग अध्ययन करना है, उत्तेजनाकी भांति कार्य करनेकी शक्ति है, जो दूसरोंमें समान व्यवहार जागृत कर देती है।

प्रो० वुडवर्थ बताते हैं कि कुछ स्थितियां जो पहले अचेतन अनुकरणके प्रतिक्षेप उदाहरण दिखती हैं, वास्तवमें ऐसी नहीं हो सकतीं। जैसे एक फ़ुटबॉलके खेलमें जब पीछे खेलनेवाला रक्षक खिलाड़ी (fullback) एक लत्ती मार रहा है तब बहुधा दर्शक भी लत्ती मारनेके समान गति करते हुए दिखाई दे सकते हैं। यह शुद्ध प्रतिक्षेप अनुकरण सा लगता है, परन्तु बहुत बार दर्शकके पैरकी गति खेलने वालेसे पहले हो जाती है, तो उस दशा में यह शुद्ध अनुकरण नहीं हो सकता। इस दशामें दर्शकका व्यवहार उस परिस्थितिको समझने पर और इस रुचि पर आश्रित है कि कोई एक विशेष गति करनी चाहिए, क्योंकि सामान्यतया इस प्रकारका उत्तेजित कार्य अपने पक्षके लिए होती है।

(२) दूसरे अन्य जनोंकी भांति और अनुरूप होनेकी प्रवृत्ति दिखाई पड़ेगी। यह बच्चोंमें दिखाई पड़ती है। वह निस्सन्देह अनुकरण करना पसन्द करते हैं। सम्भवतया यह सामूहिक मूलप्रवृत्तिकी विशेष विभिन्नता है, या सामान्य सामाजिक आवेगोंका तो अंग है ही, और इसका कारण एक समूह या झुंडके आपत्तिकालमें समान व्यवहारका स्पष्ट अतिजीवन (survival) मूल्य हो सकता है। कुछ भी हो ऐसे अनुकरण विस्तारमें प्रतिक्षेप या मूलप्रवृत्तिशील नहीं हैं। उनमें बुद्धि और अनुभव पग-पग पर आ जाता है। ऐसे अनुकरणोंकी विशेषता ऐसी बातोंमें है जैसे फ़ैशन और आचारविधियोंका फैलना।

(३) तीसरा, विचारपूर्ण या विवेकमय अनुकरण होता है, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण एक बड़े रूपमें जापानियोंका योरोपियन विधियों और विचारोंका जान बूझकर अनुकरण करना है। टार्डे के बहुतसे उदाहरण

स्पष्टतया इस समूहमें आते हैं।

(ख) **संकेत.** संकेत शब्दका प्रयोग अब अनुकरणके ज्ञानात्मक पक्ष के लिए अर्थात् विचारों और विश्वासोंके अनुकरणके लिए होता है। संकेत की वास्तविक प्रकृतिके सम्बन्धमें अब भी बहुत मतभेद है और विभिन्न लेखकों द्वारा दी गई इसकी परिभाषा अनेक और विरोधी हैं। अंग्रेजी लेखोंमें विवादका आधार प्राय: डा० मैक्ड्यूगल की परिभाषा है, जो इस प्रकार है: "संकेत संचारकी एक प्रणाली है, जिसका परिणाम संचारित प्रस्तावको विश्वासके साथ ग्रहण करना है, परन्तु इस ग्रहणमें कर्त्ता किन्हीं तार्किक कारणोंसे इसका औचित्य माननेके प्रभावसे स्वतंत्र है।" मेरे विचारमें अब यह सामान्यतया माना जाता है कि संकेत योग्यता केवल निष्क्रिय भावनाकी उत्पत्तिकी एक अवस्था नहीं है, वरन् इसमें कुछ मूल-प्रवृत्तिशील प्रवृतियों या विचारोंकी किसी व्यवस्था या पद्धतिकी जागृति सम्मिलित है। इन विचारोंमें एक दृढ़ रागात्मक ध्वनि है जिसका परिणाम सब विरोधी विचारोंका रोकना और चेतनाके स्रोतको बरबस जागृत विचार पद्धतिकी विचार दिशामें ले जाना है। दूसरे शब्दोंमें संकेत योग्यता कुछ मूलप्रावृत्तिक या सांवेगिक पद्धति या जटिल (complex) की जागृति और फलस्वरूप होने वाले विरोधी विचारोंकी रुकावटके कारण होती है। इस प्रकार यह स्वयं कोई मूलप्रवृत्ति नहीं बल्कि दूसरी संवेगशील पद्धतियों या जटिलोंके क्रियाशील होने पर आश्रित है।

विभिन्न और समान व्यक्तियोंके द्वारा विभिन्न परिस्थितियोंमें संकेत योग्यताकी जो विभिन्न मात्रा प्रदर्शित होती है, उसका कारण हम इसी प्रकार बता सकते हैं। इससे पता चलता है और जैसा कि डा० हार्ट (Hart) ने बहुत स्पष्टतया दिखाया है सामान्यतया संकेतसे किसी भी प्रकारके व्यवहारको सम्बद्ध करनेसे, वह किसी भी अर्थमें उस प्रकारके व्यवहारको समझाना नहीं हुआ। हमें प्रत्येक स्थितिमें उस प्रबल संवेगशील ध्वनिके सहित जिसको अपील की गई है, विचारोंके जटिल, तथा आदर्शों और स्थायीभावोंके विशेष संगठन जो व्यक्तिमें हैं, जाननेकी आवश्यकता है, और यह भी जाननेकी आवश्यकता है कि वह उत्साहित करने वाली या बाधा डालनेवाली शक्तियोंकी भांति कार्य करेंगे। यह सत्य है कि संकेत

योग्यताकी कुछ व्याख्याएं दी गई हैं, जो कुछ विशिष्ट मूलप्रवृत्तियों पर आश्रित हैं। इस प्रकार डा० मैक्ड्यूगल के अनुसार इसमें आत्मगौरव और दैन्यवृत्तिकी मूलप्रवृत्तियां सम्मिलित हैं। डा० ट्रॉटर झुंड मूलप्रवृत्ति को मानते हैं और संकेत योग्यताकी सब विभिन्नताओंका कारण उस अन्तर की मात्रा बताते हैं जिसमें झुंडकी आवाज़के साथ संकेतोंकी समानता है। जब कि अन्य लोगोंके अनुसार विस्तृत अर्थमें काम-मूलप्रवृत्तिसे (sex instinct) सामान्यतया प्रेरक शक्ति मिलती है। परन्तु प्राप्त प्रमाणके प्रकाशमें यह अधिक उचित मालूम होता है कि विभिन्न स्थितियोंमें विभिन्न रागात्मक-क्रियात्मक बातें सम्मिलित हैं। कुछ भी हो हर जगह संकेत योग्यताकी विभिन्नता व्यक्तिकी मूलप्रवृत्तिशील और संवेगशील प्रवृत्तियों के संगठन और सुधारकी मात्रा पर आश्रित है, और इस संगठनमें विचार, आदर्श, और बहुत जटिल रुचियां सम्मिलित होती हैं। उनके सन्दर्भके बिना संकेत कहलाने वाली एक सामान्य बनावटी मूलप्रवृत्ति पर इस प्रकार विचार करना लगभग व्यर्थ है।

(ग) **सहानुभूति.** आचारनीति (ethics) और सामाजिक सिद्धान्तमें सहानुभूतिके विचारका महत्वपूर्ण भाग रहा है। संकेत और अनुकरणकी भांति, सहानुभूति शब्द भी बहुत अस्पष्ट है और यह विभिन्न बातोंको सम्मिलित करता है। पहले तो हम सहानुभूतिका अर्थ भावना-फैलाव (contagion) कर सकते हैं, जैसे जब हम प्रसन्नचित्त समाजमें रहते हैं तो प्रसन्नताका अनुभव करते हैं। इस प्रकारकी सहानुभूति सामूहिक प्राणियोंकी विशेषता है। और डा० मैक्ड्यूगल के अनुसार "यह वह सीमेंट है जो पशु समाजको जोड़ता है।" डा० मैक्ड्यूगल ने एक सामान्य नियम बनाया है जिसे वह संवेगोंके सहानुभूतिप्रद आगमन (induction) का नियम कहते हैं, जिसके अनुसार एक व्यक्तिके संवेगका प्रदर्शन एक उत्तेजना की तरह काम करता है और जो स्वाभाविक रूपसे दर्शकमें वही संवेग जागृत कर देता है। यह विशेषकर क्रोध और भयके विलक्षण फैलावका कारण बताता है। फिर भी यह बहुत सन्देहात्मक है कि डा० मैक्ड्यूगल के द्वारा बनाये गये ऐसे सामान्य नियमका कोई औचित्य है। यह निश्चय ही सच नहीं है कि हम सदैव केवल निरीक्षित संवेगका ही अनुभव

करते हैं। जैसे बालकमें डर देखकर डर उत्पन्न हो सकता है, परन्तु साथ ही डर देखकर स्नेहका प्रवाह भी हो सकता है। फिर इन स्थितियोंमें भी जहां प्रत्यक्ष फैलाव (contagion) दिखाई पड़ता है, निकट परीक्षा होने पर यह पता लग सकता है कि जिन व्यक्तियोंका इससे सम्बन्ध है उनके अन्दर एक साधारण कारण काम कर रहा है, जैसे एक ही पदार्थको देखकर सब जागृत हो जायें, का दर्शककी चेष्टा प्रत्यक्ष इन्द्रिय उत्तेजनाके कारण नहीं वरन् परोक्ष पूर्वानुभवके सम्बन्धोंके आधार पर हो।

जैसा कि रिबट ("Psychology of the Emotions," pp. 230 seq.) और डा० मैक्ड्यूगल ("Social Psychology," P.96) ने स्पष्ट रूपसे दिखाया है, यह ध्यान देना आवश्यक है कि इस पहले अर्थमें सहानुभूतिको करुणा, वात्सल्य, दया आदिसे नहीं गड़बड़ाना चाहिए। वात्सल्य, संवेगके बिना भी सहानुभूति जागृत हो सकती है। निश्चय ही बहुतसे ऐसे भी होते हैं जो किसीके कष्टको देखकर, सहानुभूति के कारण उत्पन्न कष्टसे बचनेके लिए वहांसे हट जाते हैं। दूसरे, सहानुभूति का अर्थ दूसरोंके लिए भावना होना भी हो सकता है यह दूसरोंके अनुभव के समान अनुभव करनेसे भिन्न है। इस अर्थमें सहानुभूति वास्तवमें एक अकेला संवेग नहीं है वरन् अनेक अन्य सम्बन्धी और परोपकारी संवेगके समूहका एक सामूहिक नाम है।

उपरोक्त वर्णनसे पता चलेगा कि अनुकरणके अस्पष्ट पदके अन्तर्गत जो बातें हैं वह बहुत विस्तृत श्रेणीकी हैं और उनमें मूलप्रवृत्ति, आदत और विवेकके तत्व विभिन्न अनुपातमें उपस्थित हैं। शुद्ध अनुकरणके सम्बन्धमें यह बहुत सन्देहात्मक है कि यह समाज-निर्माणमें एक मौलिक रूपसे महत्व-शाली नियम है। निश्चय ही यह उपार्जित समानताओंको चालू रखनेका साधन अवश्य है, और इससे एकता होती है। इस तरह यह एक स्थिति-पालक बात है। व्यवहारकी एकता या समानता समाजमें दूसरे साधनोंसे भी उत्पन्न की जाती हैं, साधारण मूलप्रवृत्तियोंको अपील करने और साधारण (common) आदर्शोंको अंकुरित करनेसे। यह भी ध्यान देना चाहिए कि समाज केवल "सदृशोंके उत्पादन" पर ही आश्रित नहीं है, वरन् कदाचित् प्रधानतया कार्य-भेद पर अधिक आश्रित है। किसी भी स्थितिमें

यह कहना कि "समाज अनुकरण है" वास्तवमें एक पदमें मूलप्रवृत्तिशीलसे लेकर विवेकमय व्यक्तियोंकी अन्तःक्रियाओंकी अनेक और विभिन्न घटनाओं और प्रकारोंको सम्मिलित करना है। संकेत और सहानुभूति पदोंके अन्तर्गत बातें भी बहुत विस्तृत श्रेणीकी हैं और निस्सन्देह उनका सामाजिक जीवनमें बड़ा महत्व है। परन्तु उनको मानसिक और सामाजिक जीवनके अद्वितीय अंग मानना ग़लती मालूम होता है। वह प्रत्येक स्थितिमें विभिन्न संवेगशील और मूलप्रवृत्तिशील प्रवृत्तियों पर आश्रित हैं और स्वयं मुश्किलसे मूलप्रवृत्ति हैं। यह कहना कि अमुक घटनाका कारण संकेत या सहानुभूति है सामान्यतया कुछ भी स्पष्ट नहीं करता।

अध्याय ३

विवेक और इच्छा का कार्य

आजकल उसके विरुद्ध बहुत विस्तृत प्रतिक्रियाएं हैं जिसे "बुद्धिवाद" (intellectualism) कहते हैं, और विवेक (reason), अभिलाषा (desire) और इच्छा (will) के विरुद्ध आवेग पर ज़ोर देनेकी प्रवृत्ति है। विश्वास और ज्ञानके क्षेत्रमें हमारे बहुतसे गृहीत मतोंकी विवेक रहित प्रकृति पर और झुंड-संकेत तथा समूहके दबावमें उनके मूलकी ओर ध्यान दिलाया जाता है। आचरण-क्षेत्रमें यह बताया गया है कि हमारे कार्य प्रारम्भिक रूपमें मूलप्रवृत्ति और आवेगोंके कारण होते या उनसे प्रेरक-शक्ति प्राप्त करते हैं, जब कि विचार और विवेक बिल्कुल गौण हैं; वह कार्य प्रारम्भ करनेमें असमर्थ और मूलप्रवृत्तियों द्वारा निश्चित उद्देश्योंके साधन ढूंढने तक सीमित हैं। इस विचारको आधुनिक मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथोंसे बहुत प्रेरणा मिली है परन्तु यह याद रखना आवश्यक है कि यह किसी प्रकार भी नया नहीं है। यह हमें रिबट जैसे लेखकमें स्पष्टतया व्यवस्थित मिलता है वह कहते हैं "चरित्रमें जो मौलिक है, वह हैं मूल-प्रवृत्तियां, आवेग, प्रवृत्तियां, अभिलाषाएं, और भावनाएं, यह सब और कुछ नहीं" (पृष्ठ ३९०); और बहुत समय हुआ तब ह्यम ने हमें बताया था कि "विवेक लालसाका दास है और होना चाहिए और सेवा तथा

---

* जिस विचारधाराका अनुसरण प्रोफ़ेसर हॉबहाउस ने अपनी पुस्तक "दि रैशनल गुड" में किया है, इस अध्यायकी विचारधारा उसके बहुत सदृश है; यह अध्याय पहले ही लिखा जा चुका था और उपरोक्त पुस्तकके प्रकाशित होनेके पूर्व अपने इसी रूपमें लगभग तैयार था। मेरे तर्कोंने प्रो० हॉबहाउस की अन्य पुस्तकों और प्रो० डावेश हिक्स (Dawes Hicks) की शिक्षासे बहुत कुछ लिया है।

आज्ञा पालन करनेके अतिरिक्त और किसी पदके लिए वह झूठा अधिकार नहीं दिखा सकता।" और लालसासे उनका अर्थ था सब आवेगशील (impulsive) क्रियाएं जैसे कामनाएं, अभिलाषाएं आदि। और विवेक हमारे विचारों और लालसाओंकी तुलना और प्रबन्ध करनेकी आन्तरिक शक्ति है और इस प्रकार उसमें कोई नई प्रेरक शक्ति नहीं है।

यह बड़े दुःखका विषय है कि बहुतसे आधुनिक लेखक जो इस प्रकार के मतके पक्षमें हैं, यह नहीं बताते कि विवेकसे वह क्या समझते हैं। वह विवेकको एक प्रकारकी अमूर्त्त (abstract) शक्ति मानते हैं जो प्रारम्भिक नियमोंसे परिणाम निकालती है, और इच्छाको एक अद्वितीय क्रिया मानते हैं जो आवेगोंके अन्तर्गत नियमोंसे भिन्न नियमों के द्वारा काम करनेको निर्धारित होती है। विवेक और इच्छा सम्बन्धी ऐसे अमूर्त मतोंके विरुद्ध आवेगोंके कार्य पर ज़ोर देने वाली प्रवृत्ति कदाचित् ठीक दिशामें है; परन्तु यह देखना कठिन नहीं है कि बुद्धिवादके विरोधी पक्षके विचारों पर भी वही आक्षेप हैं जो कि "बुद्धिवाद" पर हैं, जिसका यह विरोध करते हैं। सामान्यतया इस वादानुवादके दोनों ओरके तर्कोंमें दो भ्रान्ति हैं, एकको प्रयोगसिद्ध (empirical) से विवेक को अलग करने वाली कह सकते हैं और दूसरी भ्रांतिके कारण हैं व्यक्तित्वको पृथक् इकाइयोंमें विभाजित करना और आत्मचेतन व्यक्तित्वको एक सम्पूर्ण न मानना।

पहलेके सम्बन्धमें, इन्द्रिय-अनुभवसे प्राप्त ज्ञानके तत्वोंको विचार संगठनकी क्रियाके कारण-तत्वोंसे बिलकुल अलग मानना प्रथम दृष्टिमें प्राकृतिक सा लगता है। इस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान और विचार एक दूसरेसे बिल्कुल अलग और भिन्न समझे जाने लगे हैं। इन्द्रिय ज्ञान वह है जो हमें अनुभव का प्रदत्त (data) देता है। दूसरी ओर विचार या विवेक इस प्रदत्तकी उन नियमोंके प्रकाशमें तुलना और कार्यान्वित करनेकी शक्ति है, जिनको यह अपनेमें से या अपनी प्रकृतिमें से रहस्यमय रूपमें प्राप्त करती है। इससे ज्ञानके सिद्धान्तमें दुस्तर कठिनाइयां आ जाती हैं और अन्तमें वास्तविकताकी सच्ची प्रकृति तक पहुंचनेके साधनके रूपमें विचार या विवेकके मूल्यमें अत्यधिक अविश्वास हो जाता है। सच तो यह है कि विरोध प्रकार

का नहीं वरन् मात्रा का है। ज्ञानके बिल्कुल प्रारम्भसे ही इन्द्रिय ज्ञान और विचार अभिन्न रूपसे गुंथे हुए हैं। बहुत प्रारम्भिक चेतन कार्य भी वास्तवमें विवेक, तुलना और परस्पर सम्बन्ध करनेका कार्य है। सचमें हमें भी ऐसी चीज़ नहीं मिलती जो केवल दी हुई है और सोची नहीं गई। ज्ञानकी उन्नति इस विवेक (discrimination) और परस्पर सम्बन्ध से हुई है। सामान्य नियमोंका केवल वहीं तक मूल्य है जहां तक वह अनुभवके प्रदत्तको परस्पर सम्बद्ध करते हैं। परन्तु प्रयोगसिद्ध और विवेकमय (rational sense) अन्योन्याश्रित है। इस सम्बन्धमें हम प्रदत्त और उसको समझानेवाले नियमोंके विषयमें कहते हैं; परन्तु प्रदत्त केवल दिए नहीं रहते, उनमें विचार और विवेकके तत्व पहलेसे रहते हैं। दूसरी ओर, विवेकमय का कोई अभिप्राय और मूल्य नहीं है, इसके अतिरिक्त, कि यह यथार्थ प्रदत्त के परस्पर सम्बन्धका प्रतिनिधित्व करता है। "विचार रहित अर्थ (sense) अन्धा और अर्थरहित विचार रीता होता है।"

यही बात इच्छाके साथ भी है। यदि हम इच्छामें से वास्तवमें प्रत्येक प्रकारकी आवेग भावना हटा सकते, तो इसके अन्दर कुछ भी नहीं होता और यह रीते घर पर शासन करती, सच यह है कि इच्छासे आवेगको अलग करना उतना ही ग़लत है, जितना विचारसे अर्थको बारीकी से अलग करना। एक ओर, मनुष्यमें, सबसे सरल आवेग भी आत्मचेतनाकी उपस्थितिके कारण अत्यधिक परिमार्जित होता है, और कभी भी आवेग खाली आवेग नहीं होता, दूसरी ओर, इच्छाक्रिया एक अद्वितीय और सरल क्रिया नहीं, वरन् एक नियम या प्रवृत्ति है, जो आवेगों और अभिलाषाओंके समूहसे भरी हुई है, उन्हें उद्देश्यकी एकता देती, और यथार्थमें आवेगों, अभिलाषाओं, और भावनाओंसे बनी होती है या इसका स्वरूप इन्हींके कारण है।

दूसरी भ्रान्ति पहलीसे बहुत निकट रूपमें सम्बद्ध है। यह अपनी शक्ति सहित प्रत्येक इकाईके संतुलनकी भांति चेतन व्यक्तित्वके माननेमें है। इस प्रकार हम लालसाओं और आवेगोंको व्यक्तित्व पर बाहरसे काम करनेवाली शक्तियोंके रूपमें सोचते हैं, यद्यपि आश्चर्य की बात है कि व्यक्तित्वमें भी वही लालसाएं और आवेग हैं। इस प्रकार भी हम आवेगोंको अपनेमें रहते हुए और दूसरी पृथक सत्ता विवेक या इच्छाका सामना करते हुए

ांगते हैं। परन्तु निश्चय ही चेतन व्यक्तित्व इस प्रकार विभागोंमें
वेभाजित नहीं किया जा सकता। विवेक, ज्ञान (sense) इच्छा और
ावृत्ति आत्म-प्रकाशनके तरीक़े हैं और वह तरीक़े हैं जिनमें स्वयं (self)
अपना गौरव दिखाता और निर्वाह करता है। सम्पूर्ण आत्मशक्ति
में जो शक्ति सम्मिलित है, निस्संदेह उसके बहुतसे रूप हैं, आवेगशील
(impulsive) या ऐच्छिक (voluntary) जैसी भी क्रिया है वह
उसके अनुसार विभिन्न रूप धारण करती और अपने लिए विभिन्न धाराएं
ढूंढ लेती है परन्तु प्रधानतया एक ही रहती है। निश्चय ही वहां संघर्ष है
परन्तु यह संघर्ष स्वयंके अन्दर ही है, और स्वयं तथा किसी बाह्य पदार्थके
बीच नहीं। जीवनकी प्रतिरूपता (disharmony) इस बातके कारण
नहीं है कि विवेक कहलाने वाली सत्ता पर आवेग कहलानेवाली अन्य सत्ता
विजय प्राप्त कर लेती है, वरन् इस कारण है कि स्वयं (self) उसे
अनुरूपता या आवेग संगठनकी उस मात्रा तक नहीं पहुंचा है जिसका होना
उसके कार्यशील विवेकी आवेगोंका काम है। विवेक और इच्छा प्रवृत्तियों
से पृथक सत्ताएं नहीं हैं, वरन् वह नियम हैं जो उनमें और उनके द्वारा
कार्यान्वित हो रहे हैं और इस बातका प्रयत्न कर रहे हैं कि क्रियात्मक
शक्तिके प्रवाहको उन स्पष्ट दिशाओंके अन्दर रखें जो पिछले भागोंमें
स्पष्टतया समझे हुए उद्देश्योंसे प्रकाशित हों।

हालके मनोवैज्ञानिक ग्रंथोंमें उपरोक्त तर्कका काफ़ी समर्थन मिलता
है। मेरे विचारमें, यह माना जाने लगा है कि इच्छाको क्रियात्मक
(conation) के उच्च रूपमें में ही समझा जा सकता है जो निम्नतर
रूपों पर आश्रित है और उन्हें सम्मिलित करती है, तथा यह कि क्रियात्मक
क्षेत्रका विकास ज्ञानात्मक क्षेत्रके विकासोंके साथ चलता रहता है। विकास
या परिणामवाद (evolution) के दृष्टिकोणसे अपनी समस्या देखनेसे
हम कह सकते हैं कि ज्ञानात्मक विकासके प्रत्येक स्तर या तलके समान
क्रियात्मक विकासके भी स्तर है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण (perception)
के स्तर पर अर्थात् इन्द्रिय-समक्ष उपस्थित पदार्थोंकी चेतना, हमारे पास
प्रवृत्ति या मूलप्रवृत्तिकी अवस्था है। जैसा कि हमने देखा है, इनमें ज्ञाना-
त्मक तत्व हैं। वह ज्ञान-गति-सम्बन्धी (sensori-motor) कार्यों द्वारा

अपनेको कार्यान्वित कर सकते हैं जिसमें सम्पूर्ण परिस्थितिका एक अस्पष्ट ज्ञान-संयोग (sense-synthesis) उपलक्षित है। इस परिस्थितिमें आवश्यकतानुसार कार्यमें अनुकूलता और परिवर्त्तन किए जाते हैं। इनमें परिवर्तित परिस्थितिका एक अस्पष्ट पूर्व-ज्ञान, लक्ष्य पर प्रयोजनकी धुंधली चेतना भी सम्मिलित हो सकती है और भावना ध्वनि (fee ing tone) के तत्त्व तो उनमें होते ही हैं। इस अवस्थामें जहां तक आवेगका शासन है यह इन पिछले तत्त्वोंके कारण हैं। आनन्ददायक भावना-ध्वनि आवेगको प्रबल बनानेको प्रवृत्त होती है, और कष्टप्रद भावना-ध्वनि (feeling-tone) इसको रोकती है और अनुभवसे सीखने वाले प्राणियोंमें यह किसी विशेष उद्देश्यकी ओर बदले या मोड़ भी देती है। इस उद्देश्यका निश्चय अधिकतर अति जीवन (survival) की दशाओंसे होता है।

दूसरे स्तर पर हम वहां आते हैं जिसे प्रो० स्टाउट ने स्वतंत्र विचारों की अवस्था कहा है, वह अवस्था जिसमें मस्तिष्क वर्तमानके परे जा सकता है, भूतकालके अनुभवोंको याद कर सकता है और पिछले अनुभवोंके आधार पर कदाचित् भविष्यकी भी आशा कर सकता है। क्रियात्मक स्तर पर, इस अवस्थामें प्रयोजनके कार्यका आरम्भ होता है, जिसे **अभिलाषा** कह सकते हैं और कदाचित् प्रो० हॉबहाउस के शब्दोंमें इस प्रकार सर्वोत्तम परिभाषा होगी—विचार-विशिष्ट आवेग। यहां विचारमें एक प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्यकी आशा है। अब केवल वर्त्तमान प्रभाव ही कार्यके लिए उत्तेजक या मार्गदर्शक नहीं होते, वरन् इसको आदर्श प्रतिनिधित्वमें भी अपना आरम्भ मिल सकता है। यह स्पष्ट होना चाहिए कि अभिलाषा, आवेग और भावनासे अलग कोई दूसरी चीज़ नहीं है। बल्कि इसके विपरीत यह केवल आवेग है जिसके संचालक और मार्ग दर्शक विचार हैं।

इस अवस्थामें श्री शैंडके द्वारा कार्यान्वित और डा० स्टाउट तथा डा० मैक्डयूगल के द्वारा ग्रहण किए गए स्थायी भावोंके सिद्धान्त पर विचार करना आवश्यक है। आवेग और संवेग स्वयं जटिल हैं परन्तु वह तब भी अधिक जटिलताकी पद्धतियोंमें संगठित होने लगते हैं और इन पद्धतियोंको ही स्थायीभाव नाम दिया गया है। इस प्रकार स्थायीभाव एक पदार्थके चारों ओर घिरे रहनेवाले संवेगोंका समूह, और अनेक

विभिन्न संवेगोंकी विभिन्न अवसरों पर उसी पदार्थके सम्बन्धमें अनुभव करनेकी जटिल स्थिति या धारणा है। देश प्रेम इस प्रकार की स्थिति है, जिसका सम्बन्ध अपने देशसे है, आक्रमण या रक्षा करनेका आवेग और परिस्थितिके अनुसार क्रोध या प्रेमके संवेगका अनुभव करनेकी धारणा है। ज्ञानात्मक और क्रियात्मक-रागात्मक तत्वोंका स्थायी भावोंसे बहुत निकट सम्बन्ध है। यथार्थमें स्थायीभाव प्रत्यक्षों (Percepts) और विचारोंकी पद्धतियां हैं जिनमें प्रबल सांवेगिक और मूलप्रावृत्तिक स्थितियां सम्बद्ध हो गई हैं। श्री शैंड बताते हैं कि स्थायी भावोंके द्वारा मनुष्य मूलप्रवृत्तिके शुद्ध प्राणिविद्या सम्बन्धी उद्देश्योंके अतिरिक्त उद्देश्य बनाने लगा है। "मनुष्य प्रत्येक नये स्थायीभावके साथ एक नया डर प्राप्त करता है। अपनेसे स्नेह करते हुए वह अपने धन या शक्ति, प्रसिद्धि, या अपने प्रियजनोंका प्रेम खोनेसे डरता है। यह सब उन स्थायीभावोंके उद्देश्य हैं जिनका पशुओंमें अभाव है। इन नये उद्देश्योंके लिए वह नये साधन प्राप्त कर लेता है। डरके कारण उसे बहुत-सी चीजें छिपानी पड़ती हैं। उसे अपने बुरे विचार और काम छिपाने होते हैं। यहां भौतिक (material) वस्तुओंको छिपानेकी कोई मूलप्रवृत्तिशील या उपार्जित विधि काम नहीं कर सकती। वह चुप रहने, धोखा देनेकी नई विधि खोज लेता है या झूठ बोलता है।" वर्तमान विवादके दृष्टिकोणसे यह ध्यान देना है कि स्थायीभावके विकासमें बहुतसे आवेगों, अभिलाषाओं और संवेगोंका परस्पर सम्बन्ध तथा एक किसी उद्देश्यके चारों ओर उनका संगठन सम्मिलित है, और सामाजिक मनोविज्ञानका सबसे प्रधान काम यह वर्णन करना है कि किस प्रकार समूह या समाज ऐसे स्थायीभावोंके उद्देश्य हो जाते और उनके सदस्योंके आचरण तथा विचार और भावनाओंको प्रभावित करते हैं। स्थायीभावोंका स्वयं ही बड़ी इकाइयोंमें संगठित होना, स्पष्टतया प्रत्यय या विचारकी अवस्था में ही सम्भव है। इसमें एक ऐसी स्थायी सत्ताकी भांति आत्मचेतना उपलक्षित है, जिसमें निरन्तरता और सारूप्य, तथा जीवनके सामान्य नियम बनानेकी और विशाल आदर्शोंके द्वारा मार्ग दिखाये जानेकी योग्यता है। इस अवस्थामें हम शुद्ध इच्छाके विषयमें कह सकते हैं। इससे यह पता चलता है कि किसी भी इच्छा-कार्यको नई या अद्वितीय बातके कारण नहीं समझना

चाहिए, वरन् ऐसा कार्य समझना चाहिए जो हमारी प्रकृतिकी किसी गहरी नींववाली और गहन पद्धतिसे, और हमारे व्यक्तित्व या स्वयंकी स्थायी प्रवृत्तिको बनानेवाली रुचियोंकी अपेक्षाकृत स्थायी पद्धतिसे निकलता है। इससे यह भी पता चलता है कि यह समस्या, जो प्रायः उठाई जाती है, कि इच्छा कहांसे उस संचालक शक्ति (dynamic energy) को प्राप्त करती है, जिससे वह क्षणिक आवेगोंपर विजय प्राप्त कर सकती है, स्वयं-कृत समस्या है जिसका कारण वह अमूर्त तरीका है जिसमें इच्छाको माना गया है। इच्छा क्रियात्मक शक्तिरहित केवल एक विचार नहीं है, वरन् हमारी क्रियात्मक प्रकृतिकी सम्पूर्ण एकता या संयोग है। यह यथार्थमें एकीकरण (integration) का प्रश्न है, अनुरूपताकी ओर प्रयत्न है, जो क्रियात्मक-रागात्मक रुचियोंकी जटिल पद्धतियोंमें और उनके द्वारा कार्यान्वित हो रहा है, और इसकी शक्ति हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी शक्ति है। अतः इच्छासे क्रियात्मकता और ज्ञानात्मकताका निकट सम्बन्ध है। प्रो० स्टाउटसे एक वाक्यखंड (phrase) लेकर हम कह सकते हैं कि "ज्ञानात्मकता प्रणाली को इसका निर्धारित चरित्र दे देती है, क्रियात्मकताके बिना कोई प्रणाली ऐसी नहीं होगी जिसमें चरित्र हो।" दूसरे शब्दोंमें, प्रवृत्ति और भावनाएं ऐच्छिक कार्योंके आधारपर हैं, परन्तु यह प्रवृत्तियां और भावनाएं अनुरूप (harmonized) और संयुक्त (synthesized) कर दी जाती हैं और इन्हें विचारों तथा आदर्शों, और विस्तृत प्रयोजन बनानेकी शक्तिके द्वारा एक विशेष उद्देश्य मिल जाता है। इस प्रकार इच्छाका कार्य वह है जो हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व या स्वयंसे निकलता है, हमारा चरित्र बनानेवाली गहरी नींवकी रुचियोंको प्रदर्शित करता है, और जो सम्मिलनकी एकता या मात्रा एक व्यक्तिने प्राप्त की है वह इस बातपर आश्रित है कि क्या वह उसके जीवनको सार्थक बनानेकी क्षमता रखनेवाले कार्यके किसी संयुक्त करनेवाले नियमको तथा किसी ऐसे विस्तृत और विशाल प्रयोजनको ढूंढनेमें सफल हुआ है जो उसके सब आवेगोंको अनुरूप कर दे और उसकी सब रुचियोंके लिए स्थान ढूंढ दे। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह उस प्रकारके समाज और सामाजिक संस्थाओं जिनमें वह रहता है, तथा जहां समाज उसके सदस्यों के लिए अनुरूप विकासका मार्ग ढूंढनेमें समर्थ हुआ है, उसपर भी आश्रित

है। उपरोक्त वर्णनसे, इच्छा कार्यमें स्वयंका काम, जिसपर कि हालके मनोवैज्ञानिक साहित्यमें बहुत जोर दिया गया है, स्पष्ट हो जाना चाहिए क्योंकि इच्छा केवल क्रियाशील स्वयंका सम्पूर्ण रूप है। फिर भी, कुछ लेखक स्वयं के **विचार** को निश्चित अंग कहते हैं। इसका विरोध डा० मैक्ड्यूगल इस कारणसे करते हैं कि स्वयंके केवल विचारमें कोई इच्छा सम्बन्धी मूल्य नहीं हो सकता, और वह इस परिणामपर पहुंचते हैं कि यह स्वयं-सम्बन्धी स्थायीभाव है जो इच्छाके बीचमें आ जाता है, और उनके विचारमें स्थायीभाव सब नैतिक विकासका आधार और कारण है। कुछ भी हो, यह मालूम पड़ता है कि जो कुछ इच्छाकी क्रियामें सम्मिलित है वह इतना या आवश्यक रूपसे स्वयंका **विचार** नहीं है, वरन् वह स्वभावोंकी पद्धति है जो स्वयं है, और उसमें क्रियात्मक शक्ति अवश्य है। निस्सन्देह स्वयं-सम्बन्धी स्थायीभाव परस्पर सम्बन्धी नियमकी भांति बहुत आवश्यक है परन्तु इसके द्वारा प्राप्त एकता बहुत संकुचित और क्रमरहित हो सकती है। जो व्यक्ति अपनेको प्रसन्न करनेके लिए अच्छा काम करता है हम उसकी प्रशंसा बहुत कम करते हैं। अधिक एकता लगन या बड़े उद्देश्योंसे संवेगशील आसक्ति द्वारा प्राप्त होती है, और इन उद्देश्योंका स्वयं मूल्यवान् होना आवश्यक है। यह उद्देश्य इस प्रकारके न हों जिनका मूल्य आत्मगौरवकी मूलप्रवृत्तिको सन्तुष्ट करने के कारण हो। इस बातपर पहले* ही विवाद हो चुका है और यहां उसे बढ़ानेकी कदाचित् आवश्यकता नहीं है।

तो फिर हम कह सकते हैं कि विवेकके प्रायोगिक पक्षमें इसका काम साधनको साध्य बनानेमें समाप्त नहीं हो जाता। इसका कार्य आवेगोंको विस्तृत और सम्बद्ध उद्देश्योंके अधीन करके उन्हें अनुरूप बनाना है। इस प्रकार उनका मुख्य कार्य निर्दिष्ट और संगठित करना है। हम इसे एकीकरण और उन्नतिका नियम तथा अनुरूपताकी ओर प्रयत्न मान सकते हैं। मानसिक परिणामवाद(evolution)के प्रारम्भिक रूपोंमें जो संयोग(synthesis) हुआ था वह थोड़ा और सीमित था। कदाचित् सामान्य शासनके प्रति मूलप्रवृत्तियां प्रथम पक्ष हैं परन्तु वह केवल अपूर्णरूपसे संगठित होती हैं। जब

* देखिये पृष्ठ २०-२१.

हम शुद्ध प्रयोजन और आत्मचेतनाकी अवस्थाको पहुंच जाते हैं तब विवेकी आवेग ही पहले दिखाई पड़ता है। ज्ञान और आचरण दोनों ओरसे यह क्रम और एकीकरणकी ओर एक आवेग है। सिद्धान्त-संसारमें विवेक अनुभवके विच्छिन्न तत्वोंको एकत्रित करनेका और किसी एकरूप करनेवाले नियममें उनका कारण ढूंढनेका प्रयास करता है। प्रयोगके क्षेत्रमें विवेक जीवनको एक अनुरूप सम्पूर्ण बनाना चाहता है। यह कल्पना करना ग़लत है कि विवेक उन अमूर्त्त (abstract) नियमोंसे प्रारम्भ करता है जिनको यह अनुभवके प्रदत्त पर डालना चाहता है। नियम वहीं तक मूल्य रखते हैं जहां तक वह उस प्रदत्तसे निकलते और उसे सार्थक बनाते हैं। इसी प्रकार इच्छा या विवेक, अपने प्रायोगिक रूपमें ऐसी सत्ता नहीं है जो विरोधकी स्थिति में विघ्न डालें और यह उन अमूर्त्त नियमोंके आधार पर आज्ञा देता है जो यह किसी अपनी ही प्रकृतिसे प्राप्त करता है, परन्तु यह निश्चय ही हमारी प्रकृतिकी गहराईमें प्रतिक्रिया प्राप्त करनेवाले नियमों और उद्देश्योंके प्रकाश में प्रवृत्तियोंका संयोग है। जो इच्छा और विवेकके विरुद्ध विवाद करते हैं वह उन्हें बहुत ही अमूर्त्त रूपमें सोचते हैं। जो तथ्य उनके मस्तिष्कमें हैं वह विवेक कहलानेवाली सत्ता तथा आवेग कहलानेवाली अन्य सत्ताओंके बीच होनेवाले संघर्षके कारण नहीं हैं। वास्तविक कठिनाई यह है कि जो एकता और एकीकरण (integration) की मात्रा मनुष्यने समाजमें प्राप्त की है वह अब भी कम है। इससे यह पता चलता है कि व्यक्ति और समाजकी अनुरूपताओंके विकासकी दशाओंमें कम नहीं वरन् अधिक विवेक और ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

अब सामाजिक बातोंमें विवेक और इच्छाके कामपर विचार करना है। पहले तो यह समस्या सामाजिक आन्दोलनोंके सिद्धान्त और प्रयोगके सम्बन्ध की समस्याकी भांति सामने आती है। अब यह ऐसा प्रश्न है जो सामान्य मनोवैज्ञानिक कारणोंसे हल नहीं किया जा सकता। निस्सन्देह कुछ सामाजिक सिद्धान्त बहुत प्रचलित आवेगशील धारणाओंके केवल हल्के प्रतिबिम्ब हैं, और अन्य शक्तिशाली संवेगशील स्थितियोंकी विवेकमय व्याख्या हैं, जिनकी वास्तविक प्रकृति केवल अस्पष्टतया समझी जाती है। दूसरी ओर कुछ सिद्धान्तोंमें वास्तविक मार्गदर्शक मूल्य और शक्ति इस बातसे मालूम

होती है कि उन्होंने असम्बद्ध आवेगों और विचारोंके ढेरको व्यक्त किया और निश्चित रूप दिया, जो विचारकी संगठन-क्रियाके बिना निरर्थक और निष्फल रह जाता। जैसे, यह विवादयोग्य है कि फ्रांसीसी एन्साइक्लोपीडिया (विश्वकोष) बनानेवालोंका प्रभाव इस प्रकारका था और निस्सन्देह प्रजा-तन्त्र, समाजवाद आदिके सिद्धान्त बहुत प्रभावशाली हुए हैं। बहुधा केवल एक वाक्यखंडमें, जैसे, "संसारके कर्मकारी एक हों", "युद्धका अन्त करनेके लिए युद्ध" ढेर-सी भावनाएं, विचार और आवेग संग्रहीत हो जाते और अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतिक्रिया हो जाती हैं। तो फिर, सिद्धान्तका स्थान एक विस्तृत सामाजिक खोजका विषय है, और प्रत्येक विषयमें उसके अपने गुणोंपर विचार होना चाहिए।

परन्तु विवेकका समाजमें क्या स्थान है यह समस्या ऊपर संकेत किये गये अनुसंधान मार्गसे कहीं अधिक गहराईमें पहुँचती है। विवेकी प्रवृत्ति अपनी सब अवस्थाओंमें आत्मचेतन नहीं है। जैसा कि हम देख चुके हैं यह यथार्थ में अनुरूपता या एकीकरणकी ओर एक प्रयत्न है और आत्मचेतना की कल्पनाकी अवस्थाके बहुत पहलेसे क्रियाशील है। अतः यह हो सकता है कि सामाजिक संस्थाओंके अन्दर एकताके ऐसे नियम होते हैं, चाहे उन्होंने अपने विकासके कारणोंके चेतन शासनकी अवस्थाको कभी भी प्राप्त न किया हो। यह भी हो सकता है कि जब वह अपनी जीवन वृत्तिमें उस विवेचक मोड़पर पहुँचेंगे तब उनका विवेकी चरित्र अधिक स्पष्ट हो जायेगा। कुछ भी हो, यह दिखाना कठिन नहीं लगता कि सामाजिक संस्थाओंमें ऐकिक जीवनकी ओर प्रयत्नका प्रदर्शन दिखाई पड़ता है, वह अनुरूपता पर एक प्रयोग है, और समाज विज्ञानकी विस्तृत खोजसे यह पता चलेगा कि यह प्रयत्न दृढ़तासे यद्यपि निरन्तर नहीं, ज्ञान और सीमामें फैलता जा रहा है। सामा-जिक दर्शनके दृष्टिकोणसे विचार करनेपर, अर्थात् इस दृष्टिकोणसे कि उन्हें क्या होना चाहिए, संस्थाओंके काम व्यक्तित्वके अनुरूप विकासकी धाराओं और उस विकासकी आवश्यक अवस्थाओंको प्राप्त करनेकी विधियोंको ढूंढना है। परन्तु "होना चाहिए" को "है" से नहीं गड़बड़ाना है, और सामाजिक संस्थाओंकी जाँच, जैसी कि वह हैं, और रही हैं, हमें यह चेतावनी देगी कि मनुष्य जातिके द्वारा प्राप्त विवेकमय एकताकी मात्राकी अतिशयोक्ति नहीं

करनी है। सामाजिक संस्थाएँ किसी एक मस्तिष्कका परिणाम नहीं हैं और न उनके स्पष्टतया सोचे हुए प्रयोजन सामान्यत: होते हैं। वह बल्कि "प्रयत्न और भूल" प्रयोगोंकी कोटिकी मालूम होती हैं, जो जीवन की प्रतिरूप (disharmonies) समस्याओंके हलको अंधेरेमें ढूंढनेका प्रयत्न कर रही हैं। जो प्रयोजन उनमें हैं, वह प्राय: विरोधी होते हैं और एकताकी जो मात्रा वह प्राप्त करते हैं, वह जनसंख्याके बहुत बड़े अनुपातकी अति आवश्यक मांगोंके अवरोधके बदले प्राय: प्राप्त होती हैं। यह स्पष्ट होना चाहिए कि हमारे सामने जो प्रश्न है उसका पूरा उत्तर पानेके लिए सब सामाजिक संस्थाओंकी विस्तृत परीक्षा करनी होगी। उस परीक्षाका दृष्टिकोण उन प्रयोजनोंको निर्धारित करना होगा जिसके लिए उसका अस्तित्व है, किसी सीमा तक वह अनुरूप और सम्पूर्ण जीवनको सम्भव करती हैं और क्या जो साधन वह काममें लाती हैं वह स्वयं कष्टप्रद नहीं है। यह कहना आवश्यक है कि ऐसी जांच यहां नहीं की जा सकती। सामाजिक संस्थाओंकी सामान्य प्रकृतिका विवाद अन्तमें अधिक विस्तारसे करना है, परन्तु कदाचित् यह दिखानेके लिये काफ़ी कह दिया गया होगा कि हम विचारको केवल अमूर्त्त आन्तरिक शक्तिकी भाँति सोचनेमें ग़लत नहीं हैं। हमें यह अवश्य मान लेना चाहिए कि सामाजिक मामलोंमें इसका भाग बहुत अधिक अर्थ रखता है। बर्ट्रेंड रसेल (Bertrand Russel) कहते हैं कि "लम्बी दौरानमें विचार-शक्ति किसी भी मनुष्य शक्तिसे बड़ी है······ठीक प्रकारका विचार बिरला और कठिन है परन्तु अशक्त नहीं।" कुछ भी हो, इस तर्कसे कि संस्थाएँ इतनी विवेकमय नहीं होतीं जितना कि वह दिखाती हैं। इस निर्णयपर कूदनेका कि विवेकपर ध्यान देना निरर्थक है, हमें अधिकार नहीं है। बल्कि इसके विपरीत स्पष्टतया और बराबर हमारा काम अपनी संस्थाओंकी आलोचना करना, उनके अन्तर्गत संघर्ष और प्रतिरूपता (disharmony) के तत्वोंको प्रकाशित करना, और उन विवेकमय नियमोंके प्रकाशमें उन्हें फिरसे ढालना है जो पूर्ण और अनुरूप जीवनकी आवश्यक अवस्थाओंके उचित ज्ञान पर आश्रित हैं।

मूलप्रवृत्ति, इच्छा और विवेकको जिस प्रकार हम व्यक्तिमें देखते हैं, उनके विश्लेषणपर हमारा वादाविवाद आश्रित है। अब हमें इस समस्याका

सामना करना है कि क्या सामाजिक समुदाय (aggregate) में एक मस्तिष्कों या मानसिक पद्धति ऐसी विकसित हो जाती है कि जो व्यक्तिगत मस्तिष्कोंसे बनी होने पर भी उनसे भिन्न या श्रेष्ठ होती हैं, और क्या यह अनुसंधान योग्य अपने ही नियमोंका पालन करती है। यह स्पष्ट है कि समाज में विवेक, इच्छा और प्रयोजनका स्थान क्या है, इस सम्बन्धमें, लम्बी दौरान में हमारा मत उस परिणामसे प्रभावित होना अनिवार्य है जिसको हम सामाजिक मस्तिष्ककी प्रकृतिके सम्बन्धमें और सामाजिक समुदायोंकी एकताकी तत्सम्बन्धी समस्याओंमें प्राप्त करते हैं। अतः अब हम इन समस्याओंपर विवाद करेंगे।

अध्याय ४

सामाजिक या सामूहिक मस्तिष्क का सिद्धान्त

सामाजिक समूहोंके बननेकी प्रकृतिकी समस्या पर दो बहुत विरोधी दृष्टिकोणोंसे विचार हुए हैं। एक ओर तो विचारकोंका समूह सामाजिक समुदायोंके चरित्रकी व्याख्या स्थूल वातावरणके साथ प्रतिक्रिया करते हुए इसके भागों और उनकी अन्तःक्रिया और संयोगकी विशेष विधियोंके सम्बन्ध में करना चाहता है। दूसरी ओर अन्य विचारवानोंका समूह ज़ोर देता है कि जहाँ तक हम इसके सदस्योंके सन्दर्भसे इसके चरित्रकी व्याख्या करनेमें समर्थ हुए हैं, यह सदस्य अपने सामाजिक समूहके द्वारा ही समझे जा सकते हैं। यह माना जाता है कि व्यक्तिकी प्रकृति उस सामाजिक वातावरणके कारण है जिसमें वह पल रहा है और किसी विशेष सामाजिक समूहकी विशेषताएँ इसके सम्पूर्ण जीवन, इतिहास और अन्य समूहोंसे सम्बन्धोंकी दशाओंके द्वारा निर्धारित होती हैं (Durkheim, Gumplowicz)।

इन दोनों विचारोंपर भारी आक्षेप लगाये जा सकते हैं। पहला विचार व्यक्तिके सम्बन्धमें बहुत अमूर्त्तरूपसे सोचता है और इस बहुत आवश्यक बातकी अवहेलना करता है कि जैसे ही कोई समूह स्थिरता प्राप्त कर लेता है और व्यवस्थित तथा प्रमाणित संस्थाओं तथा रूढ़ियोंका विकास कर लेता है, वह अपना एक ऐसा चरित्र प्राप्त करता है जो क्रियाओंको साँचेमें ढालता और व्यक्तिके विचारों और भावनाओंको प्रभावित करता है। उस समूहके विषयमें यह कहा जा सकता है कि कुछ सीमा तक इसमें अपना ही जीवन और चरित्र है। और दूसरा विचार, यद्यपि इसमें बहुत कुछ सत्य है, प्रायः इस प्रकार प्रकाशित किया गया है कि एक तो यह व्यक्तित्वको तुच्छ बनाता है और दूसरे इसपर यह आक्षेप भी लगाया जा सकता है कि अब तक कोई ऐसा सम्बद्ध और दृढ़ वर्णन सामने नहीं रक्खा गया जिससे सामाजिक समूहोंकी

एकताका अनुमान लगाया जा सके। परन्तु सच तो यह है कि इस प्रकार विरोधका जो खाका खींचा गया है वह एक झूठा विरोध है, और समाज तथा व्यक्तिके प्रकृति-सम्बन्धी विचारपर आश्रित है। सामाजिक समुदाय की एकताका कारण उसकी ईकाइयोंकी प्रकृतिसे नहीं दिया जा सकता क्योंकि सामाजिक समूहोंके सम्बन्धके बाहर उनका कोई अस्तित्व नहीं है। वहां पहले व्यक्ति और फिर सामाजिक इकाई नहीं होती जैसे पहले ईंटें और फिर उनका ढेर होता है। जो सम्बन्ध व्यक्तियोंको एक साथ बाँधता है वह स्वाभाविक है, वास्तवमें व्यक्तिका निर्माण करनेवाला है। परन्तु यदि व्यक्तिवादी (individualistic) मत दोषपूर्ण है, तो विरोधी स्थितिकी शक्ति उसमें है जिसे यह त्याग देता है न कि व्यक्ति और समाजके उस यथार्थ वर्णन में जो यह सम्मुख रखता है। यद्यपि समाजसे अलग व्यक्ति कुछ भी नहीं होते या यों कहा जाये कि व्यक्तित्वका विकास सामाजिकताका विकास है, फिर भी समाज कुछ नहीं है, है केवल परस्पर सम्बद्ध अनेक व्यक्ति (individuals in relation), और व्यक्तियोंमें सत्ताका एक ऐसा अन्तर्भाग है जो अद्वितीय और अप्रकाश्य (incommunicable) है।

कुछ भी हो, हम विरोधी दलोंके वादानुवादसे यह जरूर सीखते हैं कि व्यक्ति स्वभावसे और वास्तवमें परस्पर सम्बद्ध हैं, और समाज एक कृत्रिम उत्पत्ति और अकेलेमें पूर्णतया रहने योग्य माने गये व्यक्तियोंको एक ढेरमें रक्खे रहनेकी एक यांत्रिक योजना नहीं है। यह भी देखना सरल है कि उनको बाँधे रखनेवाला सम्बन्ध वास्तवमें मानसिक है और विचारों, भावनाओं, अभिलाषाओं, स्थायीभावों और प्रयोजनोंपर आश्रित है। अतः क्या हम समाजको सामाजिक मस्तिष्क कह सकते हैं? कुछ लोगोंको यह केवल शब्दोंका प्रश्न मालूम होगा, और ऐसे पदोंके प्रयोगमें कोई विरोध नहीं होगा, यदि यह समझा जाये कि यह एक प्रकारकी पृथक नहीं वरन् सामूहिक एकता दिखा रहे हैं और यदि स्मरण रक्खा जाये कि इन अन्तःसम्बन्धित व्यक्तियोंकी अपेक्षा इनसे बना सम्पूर्ण, अधिक वास्तविक या मूल्यवान् नहीं है। इस समस्याके सम्बन्धमें उठाये गये वादानुवादके इतिहाससे यह दिखाना सरल है कि सामाजिक-मस्तिष्क पदका प्रयोग बहुत आपत्तिपूर्ण है, या इसमें बहुत झंझट हैं जिनका प्रभाव दूर तक है। पहले तो समाजका निर्देश करने

में मस्तिष्क या व्यक्ति शब्दके प्रयोगसे इसमें उस कृत्रिम एकताका आरोपण हुआ है जो इसमें नहीं है। फलस्वरूप व्यक्तित्वमें और छोटे समूहोंमें लघुत्व और व्यक्ति तथा समाजकी भलाईके बीच एक अपकारी विरोध आ गया है। निःसंदेह, सामाजिक मस्तिष्कके समर्थक मानते हैं और ज़ोर देते हैं कि सामाजिक मस्तिष्कका अस्तित्व उस समाजको बनानेवाले व्यक्तियोंके मस्तिष्कमें ही है, परन्तु इन सिद्धान्तोंको यथार्थमें कार्यान्वित करनेपर हम प्रायः देखते हैं कि व्यक्ति सम्पूर्णके अन्दर निमग्न कर दिया जाता है, यद्यपि आश्चर्य है कि उस सम्पूर्णके बहुत थोड़ेके विषयमें दृढ़तासे यह कहा जा सकता है कि यह व्यक्तिगत मस्तिष्कोंका है। कदाचित् यह और भी आश्चर्यजनक है कि सामाजिक सम्पूर्णमें व्यक्तियोंका निमग्न होना और उस सम्पूर्णको मनुष्यरूप देना, जिसकी ओर सामाजिक मस्तिष्कके सिद्धान्तोंका झुकाव है, प्रायः सम्पूर्णकी भलाई और उसके बनानेवाले व्यक्तियोंकी भलाईके बीच आपत्तिपूर्ण विरोधको खड़ा करनेको प्रवृत्त करते हैं। तब यह कल्पना की जाती है कि क्या कोई प्रस्तावित कार्य ऐसा हो सकता है जो इसके बनानेवाले सदस्योंके लाभके विपरीत समाजका लाभ करे। परन्तु यह निश्चय ही अपकारी और धोखा देनेवाला है। केवल सम्पूर्णता या एकीकरणमें कोई गुण नहीं है, सब मूल्य मनुष्योंके लिये मूल्य हैं, और सम्पूर्णका लाभ, अन्य किसी भी लाभकी भांति, मनुष्योंका लाभ होना चाहिए, व्यक्तित्वके लिए स्वाभाविक वस्तुमें होना चाहिए, और ऐसी वस्तुमें होना चाहिये जो व्यक्तित्वको उन्नत करती और किसी मानुषिक सम्भाव्यता (potentiality) को यथार्थ करनेका काम करती है। जैसे कि अरस्तूने प्रसन्नताके लिए कहा है, हम भलाईके विषयमें कह सकते हैं कि यदि इसे व्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकते तो सम्पूर्ण भी इसे नहीं प्राप्त कर सकता। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि एक राष्ट्र जिन चीजोंको मूल्यवान् समझता है, इसकी संस्कृति और संस्थाएं, किसी एक पीढ़ीके मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक स्थायी नहीं हैं। अवश्य, वह अधिक स्थायी हैं। परन्तु पीढ़ी दर पीढ़ी व्यक्तियोंके द्वारा जीवित रक्खी जाने और पुनर्व्याख्या किये जानेके अतिरिक्त यह संस्कृति और संस्थाएं अपने आप कुछ भी नहीं हैं। सम्पूर्णका लाभ उन सदस्योंके लाभसे भिन्न या विपरीत नहीं हो सकता जो आनेवाली पीढ़ियोंमें उस सम्पूर्णको बनायेंगे। और

इतिहास दिखाता है कि जब कभी यह पृथकत्व सूक्ष्मतासे दिखाया गया है वह जनतासे मांग करने और बलिदानका अधिकार लेनेके लिए किया गया था। इसे वास्तविक व्यक्तिगत मूल्यका सन्दर्भ न्याय्य नहीं कहता।

दूसरे, सामाजिक मस्तिष्कका सिद्धान्त निरंकुश शासन (autocracy) धनिक शासन (aristocracy) को प्रजातन्त्र शासन (democracy) के छद्मवेशमें आनेके साधन प्रदान करता है। यद्यपि सामाजिक मस्तिष्क उच्चतर और अभ्रांत है, परन्तु अपने लिए स्वयं नहीं बोल सकता। परमेश्वरको सिद्ध (prophet) और व्याख्या करनेवालेकी आवश्यकता होती है, परन्तु व्याख्या करनेवाला कल्पनाके अनुसार, लोगोंके मस्तिष्ककी व्याख्या करता है। इस प्रकार रूसोके "मोइ कम्यून" (Moi Commun) को एक बुद्धिमान विधायक (legislator) की आवश्यकता है जो जनताकी इच्छाको हमारे सामने प्रकट करे; और डा० मैकड्यूगल भी जो सामूहिक चेतनाके प्रत्यय (conception) को अस्वीकार करते हैं, यह तो मानते हैं कि जनमतकी, जो कि एक चतुर और अभ्रान्त मार्गदर्शक है, व्याख्या जनता के सर्वोत्तम मस्तिष्कोंके द्वारा सर्वोत्तम होती है और स्पष्टतया यह सर्वोत्तम मस्तिष्क ही हैं जो निश्चय करते हैं कि वह सर्वोत्तम है। इसी प्रकार वास्तविक इच्छाका तत्सम्बन्धी सिद्धान्त, वह इच्छा जो किसीकी यथार्थ इच्छा नहीं हैं, धनिक (aristocratic) हैं; क्योंकि "हमारी अपनी इच्छाकी सच्ची आन्तरिकता" जो थोड़ेसे बुद्धिमान् बताते हैं कि यह होनी चाहिए, वह है इस तरह जो विशेष प्रकारकी सरकार बन जाती है उसे पवित्र बना देते हैं और वह व्यक्तिके साथ कितना भी विरोध करे वह न्यय्य मान लिया जाता है, इस कारण कि वह विरोध उसको केवल "बलात् स्वतन्त्र बना रहा है", जो वह वास्तवमें स्वयं होना चाहता है।

तीसरे, जैसा कि समझ लिया गया होगा, सामाजिक मस्तिष्कका सिद्धान्त, प्राय: समाजपर देवत्व और व्यक्तियोंको बाँधनेवाले नैतिक नियमोंपर शक्ति और प्रतिष्ठाका आरोपण करता है। इन सिद्धान्तोंकी एक व्याजोक्ति (irony) यह है कि समाज और राज्य तक भी उच्च और निम्न दोनों प्रकारके व्यक्तियोंसे बना है। यह आत्माके सर्वोच्च प्रदर्शनकी मूर्तिमत्ता है, फिर भी व्यक्तिगत और आध्यात्मिक मूल्यकी मान्य मर्यादा इसमें लागू नहीं ोती।

चौथे, ऐसा देवत्व एक अलौकिक और गर्ह्य स्थिति पालन (conservation) की ओर ले जाता है, और यह एक धारणा है जो यथास्थिति (status quo) को उचित ठहराती है। एक बार हम एक मस्तिष्कके उस प्रत्ययसे प्रारम्भ करें जो व्यक्तिगत मस्तिष्कसे अत्यन्त उच्च है, और प्राय: आरम्भसे ही विवेकी माना गया है तो इसके अतिरिक्त कि अनिवार्य रूपसे, यद्यपि प्राय: बिना सोचे, इसके प्रति एक ऐसी अधीनता ही नहीं, भक्ति की धारणा हो जाये, और कुछ नहीं हो सकता और फलस्वरूप व्यक्तिको इस देवताका विरोध करनेकी अनिच्छा हो जाती है। हीगेल (Hegel) के अनुसरणकर्त्ताओंमें (टी०एच० ग्रीनको छोड़कर) इस प्रकारका मौलिक स्थितिपालन स्पष्ट है, विशेषकर अवरोध-समस्या सम्बन्धी उनके वर्णन में, और यह डा० मैकड्यूगलमें भी स्पष्ट है।

इन कारणोंसे सामाजिक मस्तिष्कके सिद्धान्तकी मनोवैज्ञानिक नींवों का परीक्षण, और इस बातका निर्धारण आवश्यक है कि क्या वह वास्तवमें जाति और व्यक्तिकी प्रकृति समझनेमें हमारे सहायक हैं।

यह दुखका विषय है कि सामाजिक एकताकी प्रकृतिकी समस्या सामाजिक समुदायोंके विभिन्न प्रकारके वर्णनों और वर्गीकरणके द्वारा प्रयोग ज्ञान से (empirically) या आगमनके द्वारा (inductively) नहीं समझी गई है। यह स्पष्ट है कि प्राप्त एकताकी मात्रा और वह बातें जिनपर विभिन्न सामाजिक समुदायोंकी यह एकता आश्रित है, बहुत विभिन्न हैं, और इन विभिन्न बातोंके विश्लेषणने सुगम सामान्य अनुमानोंको रोक दिया होता। सामान्यतया सामाजिक मस्तिष्कका सिद्धान्त राष्ट्रीय राज्यों जैसे विशाल और जटिल समुदायोंके सम्बन्धमें कार्यान्वित किया गया है, और मैं सोचता हूं कि इस बातने इस समस्याकी कठिनाईको और भी बढ़ा दिया है। मोटी तरहसे यहां दो प्रकारके सिद्धान्त हैं। प्रथमके अनुसार एस्पिनस (Espinas) और दुर्खीम (Durkheim) जैसे विचारकोंने कदाचित् सर्वोत्तम प्रकारके उदाहरण दिए हैं, समाज यथार्थमें उस सामूहिक चेतनाको बनाता है जिसमें व्यक्तिकी मानसिक प्रणालियां मिलती हैं और मिश्रित होती हैं। इस सिद्धान्तका अधिक सावधान रूप वुंट (Wundt) में मिलेगा, जो कि यद्यपि व्यक्ति और छोटे समूहोंके लिए समाजमें स्थान निकाल लेते हैं

फिर भी यह विश्वास करते हैं कि वहां एक प्रकारका "उत्पादक संयोग" है, जिसका परिणाम एक ऐसे सामाजिक मस्तिष्क और इच्छाका विकास है जो व्यक्तियोंके मस्तिष्क और इच्छाका अतिक्रमण करते हैं। ऐसे सब सिद्धान्तों को इस बातसे बहुत सहायता मिलती है कि उन्होंने आत्मा-सत्व (soul-substance) के अस्तित्वमें विश्वास छोड़ दिया है, परन्तु स्वयंको केवल एक निरन्तरता प्रदर्शित करनेवाली मानसिक प्रणालियोंकी श्रेणी मानते हैं। वह मानते हैं कि ऐसी निरन्तरताका अस्तित्व सामूहिक मानसिक बातोंमें भी दिखाया जा सकता है।

दूसरे प्रकारका सिद्धान्त वह है जिसका वर्णन अधिकतर जर्मन आदर्शवादियों (Idealists) और उनके अंग्रेज अनुसरण-कर्त्ताओंने किया है और जिसे इन अंग्रेजोंने विशेषकर सामान्येच्छाके सिद्धान्तके सम्बन्ध में कार्यान्वित किया है। उसका आधार समाज में व्यक्तियोंकी मानसिक प्रणालियोंका मिलन और मिश्रण इतना नहीं है जितना मानसिक विषयोंका सामाजिक चरित्र। यह माना जाता है कि व्यक्ति स्वयं यथार्थ में अपने से दूसरोंके सम्बन्धोंसे पूर्ण है और इसकी प्रकृतिका कारण भी यही सम्बन्ध हैं। और उसके विचार तथा विश्वास और उसके प्रयोजन जिन्हें वह लक्ष्य करता है, सामाजिक उत्पत्ति हैं, और जिस सामाजिक वातावरण में वह रहता है, उसके द्वारा उसका चरित्र ढाला जाता है। इस सम्प्रदायके लेखक प्रायः एक यथार्थ सामूहिक चेतना में विश्वास नहीं करते, परन्तु यह सामान्यतया पता चलेगा कि अपने सिद्धान्तको कार्यान्वित करने में चुपकेसे और कदाचित् अनजाने में, विषयकी एकतासे अस्तित्व और प्रणालीकी एकता में परिवर्त्तन कर दिया जाता है, और ऐसी स्थितियों में इस प्रकारके सिद्धान्तको पहले सिद्धान्तसे अलग करना कठिन हो जाता है। डा० मैकडयूगल का सिद्धान्त जिसको उन्होंने अपने "ग्रूप माइंड" ("Group Mind") में कार्यान्वित किया है, इन दोनों सिद्धान्तोंके बीच इसकी एक माध्यमिक स्थिति है। इस अध्यायमें एस्पिनस (Espinas), दुर्खीम (Durkheim) और मैकडयूगल के सिद्धान्तों पर विवाद करनेका विचार है। सामान्येच्छा (general will) कि समस्या पर आगे विचार होगा।

१. एस्पिनस+ के अनुसार समाज एक सामूहिक चेतना है या "चेतना अपवर्त्य" (conscience multiple) है। विचार और रुढ़ियां सम्मिलित हो जातीं हैं और इस प्रकार आत्मा आत्माके बीच संचार की प्रणाली बन जाती है, जिसका परिणाम एक वास्तविक चेतनाओंके मिश्रण, चेतना अपवर्त्योंका एक आत्मा में मिश्रण (Fusion de consciences multiples en une seule) होता है।

एस्पिनस का विचार है कि यदि प्रत्येककी आत्मा दूसरोंको सम्मिलित नहीं करती या उससे सम्पर्क नहीं रखती तो जो विशेष अनुराग एक समूहके सदस्य एक दूसरेके प्रति अनुभव करते हैं वह अबोध्य हो जायेगा। चेतना बिल्कुल अदृष्ट वस्तु नहीं है बल्कि एक ऐसी वास्तविकता है जिसका विस्तार और विभाजन हो सकता है। चेतनाके दो आवश्यक अंग प्रदर्शन और आवेग सबसे अधिक मात्रा में संचारके योग्य हैं। संकेतोंके द्वारा प्रत्यक्षीकरण एक चेतनासे दूसरी चेतना में चले जाते हैं और संवेग तथा प्रवृत्तियां नेता की आज्ञा और संकेतसे तत्क्षण फैल जाती हैं और इन संवेगोंकी शक्ति सदस्योंकी संख्या और समाजके चेतन संयोगके प्रत्पक्ष अनुपात में होती हैं। सामान्य विचार और इसके द्वारा प्रकाशित प्रवृत्तियां, एस्पिनस, के विचार में प्रकृतिकी शक्तियोंकी भांति हैं। जिसका विस्तार विभाजन और स्थान परिवर्त्तन हो सकता है और जो कभी सम्भाव्यता (potentiality) की अवस्था में रहती हैं और कभी एकाग्र होकर क्रियाशील होने लगती हैं। निस्सन्देह एक मनुष्यकी आत्मा (self) में इन संचार योग्य परिवर्त्तनोंके अतिरिक्त और भी कुछ होता है परन्तु यह और कुछ सम्प्रदाय वालोंका रहस्यमय तत्व नहीं है, वरन् इसमें विचारों और अचेतन प्रवृत्तियोंका आधार है जो विभिन्न पैतृक प्रभावों और बाहरी दशाओंके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति में विशेष रूप धारण कर लेते हैं, और इसमें शरीर रचना भी सम्मिलित है, जो प्रत्येक व्यक्तिके लिए उसकी निजी दशाओंके अनुकूल उसमें निर्धारित हुई है। परन्तु यह आधार कोई ऐसी चीज नहीं है जो वास्तव में एक व्यक्तिसे दूसरेको अलग करती है क्योंकि व्यक्तियोंकी मूलप्रावृत्तिक

+ Des Sociétés Animales.

धारणाएं और शरीर रचना यद्यपि प्रत्यक्ष रूपसे संसारके योग्य नहीं हैं, वास्तवमें जातीय प्रकृति की हैं, और जातीय बातोंसे निर्धारित विकास और परिवर्त्तन इनमें होता है। समाजमें अपनी एक वास्तविकता होती है, क्योंकि वास्तविकताका एक अन्तिम प्रमाण संयोग और स्थिरता है, तथा सामाजिक घटनाएं क्रमबद्ध और विधि (law) के अनुकूल होती हैं दूसरा प्रमाण अपने लिए अस्तित्व है और समाज में आत्म-चेतना है। "यह एक चेतना है, जो अपने में और अपने लिए रहती है"।

मैंने एस्पिनस के इस सिद्धान्तका विवरण विशेषकर इसलिए दिया है कि यह स्पष्टतया और असंदिग्ध अर्थ में उस एक गड़बड़को दिखाता है जो सामाजिक मस्तिष्कके अधिकांश सिद्धान्तोंके मूल पर है। मनोविज्ञान और Epistemology दोनोंके आधुनिक विवादों में चेतनाके कार्यों या प्रणालियों और जिन्हें विषय या अन्तर्गत तत्व कहा गया है, उनके बीच पृथक्त्वका महत्व बहुत स्पष्ट कर दिया है। मैं सोचता हूं कि मानसिक या आत्मिक (psychical) शब्दको प्रणालियों में, और अनुभूतसे पृथक् अनुभव करने में, सीमित करनेकी प्रवृत्ति है। इससे यह पता चलता है कि आत्मिक या मानसिक प्रकृति उनके अनुभवके क्षण में व्यक्तिके तात्कालिक अनुभवसे सम्बद्ध है। दूसरी ओर अन्तर्गत तत्व (contents) न तो मानसिक हैं और न रचनात्मक रुप में या मौलिक रुप में मस्तिष्कका अंग है। एस्पिनस प्रणाली और विषय-सामग्री (content) को बहुत बुरी तरह गड़बड़ करते हैं। एक जगह वह मानसिक **क्रियाओं** को उपस्थित जनोंकी बुद्धि में बाह्य संकेतोंके द्वारा जाती हुई बताते हैं, और दूसरी जगह विचारों और प्रदर्शनों को मस्तिष्क में जाता हुआ बताते हैं। वह क्या चीज है जो जाती है प्रणाली या विषय सामग्री (contents) ? भीड़ में जो बातें दिखाई देती हैं, उसमें ऐसी कल्पनाओंकी आवश्यकता नहीं है जैसा मानसिक प्रणालियोंका यथार्थ मिश्रण (fusion)। मानसिक प्रणालियां केवल व्यक्तिगत हो सकती हैं, परन्तु उनमेंसे कुछ में विशेष प्रकारसे विशेष वातावरण में एक विशेषता आ जाती है, यहां पर वातावरण है बहुतसे लोगोंकी उपस्थिति। जब भय या क्रोधसे एक भीड़ प्रेरित होती है तब निश्चय ही सब समान भय और क्रोध का अनुभव नहीं करते। होता क्या है कि एक भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति

अधिक संकेत योग्य, अधिक अनुकारी (imitative), कम उत्तरदायी और कम विवेचक हो जाता है, परन्तु अनुकरण, सहानुभूति आदिकी प्रणालियां निश्चय ही अब भी व्यक्तिगत प्रणालियां हैं।

फिर हम यह पूछ सकते हैं कि क्या एस्पिनस का वास्तविकताका दूसरा प्रमाण सन्तुष्ट हो गया ? क्या समाजों में आत्म चेतना है ? यदि है, तो फिर यह निश्चय करना क्यों कठिन है कि सामाजिक मस्तिष्क क्या सोचता है ? मेरे विचार में यह वहुत विलक्षण है कि जब सामाजिक मनोविज्ञानके लेखक मस्तिष्ककी संचार योग्यताकी ओर बहुधा संकेत करते हैं तब उपन्यास लेखक और मनुष्य प्रकृतिके अन्य निरीक्षक भिन्न मस्तिष्कोंकी दूरी और एकान्तसे आकृष्ट होते हैं, जिसमें प्रचलित मिथ्याबोध और विपर्य्यय (cross purposes) भी सम्मिलित हैं। निस्सन्देह, मनुष्य साधारण आध्यात्मिक सम्पत्ति में हिस्सा बटा लेते हैं, परन्तु इसका सम्बन्ध विषय सामग्री (contents) और मूल्यके क्षेत्रसे है, प्रणालियों और कार्योंसे नहीं, और जहां तक तत्सम्बन्धी अनुभव व्यक्तिगत है वह प्रत्येक अवस्था में विभिन्न और विशिष्ट होती है।

जैसाकि सिमेल (Simmel)* ने स्पष्टतया दिखाया है हमें स्थूल मानसिक प्रणालियों और उनके आदर्शको पृथक करना चाहिए। इनमें और इनके द्वारा आचार, कल्पित कथाएं, भाषा आदि निकलती हैं। आदर्श आन्तरिक तत्व किसी एक व्यक्तिके मस्तिष्ककी उत्पत्तिसे अवश्य ही अधिक हैं, परन्तु यह इसलिए है कि इनका सम्बन्ध मूल्यके क्षेत्रसे है और यह चरित्र में वास्तव में सार्वलौकिक है।

२. दुर्खीम का सामाजिक मस्तिष्कका सिद्धान्त उनके अन्तर पर आश्रित है जिसे वह व्यक्तिगत प्रदर्शन और सामूहिक प्रदर्शन कहते हैं। उनके विचार में किसी भीतरी आत्मा या सत्वको मानने की आवश्यकता नहीं है। मानसिक जीवन व्यक्तिगत और सामूहिक प्रदर्शनोंके श्रोतसे बना है।

व्यक्तिगत चेतनाका प्रारम्भिक आधार संवेदनों (Sensations) में

---

* Uber das Wesen der Sozialpsycholgie, "Archiv fiir Sozialwissenschaften", Bd 26, P. 285.

मिलेगा। संवेदन अन्त:क्रिया करती हुई मस्तिष्ककी बहुत सी सेलों (cells) की उत्पत्ति है, परन्तु यह उत्पत्ति एक नई चीज़ है, एक अपने ही प्रकारका संयोग है, जिसमें उनके मिश्रणके तथ्यों द्वारा तत्वोंका रूपान्तर हो जाता है, दुर्खीम कहते हैं कि संवेदन एक अकेली सेलकी उत्पत्ति नहीं वरन् अन्त:क्रिया करती हुई अनेकों सेलों (cells) की उत्पत्ति है, इस प्रकार उत्पन्न किये गये संवेदन प्रतिमाओं (images) को जागृत करनेके लिए और भी मिश्रित किये जा सकते हैं और फिर व्यक्तिगत प्रदर्शन इनके मिश्रणसे हो सकते हैं, और इस प्रकार यह प्रणाली आगे भी चालू रक्खी जा सकती है। जिस प्रकार अपने आधारके लिए व्यक्तिगत प्रदर्शनोंकी अन्योन्य सम्बन्धी बहुत सी सेल होती हैं उसी प्रकार सामूहिक प्रदर्शनोंका भी अपने आधारके लिए बहुतसे व्यक्तियोंका जमाव होता है। समाजमें एक सामूहिक आत्मा या चेतना, एक और अपने ही प्रकारका संयोग होता है जो व्यक्तिगत चेतनाओंके मिश्रण और मिलनके द्वारा, अर्थात् अन्तमें व्यक्तिगत प्रदर्शनके मिलन या मिश्रणके द्वारा होता है। "सामूहिक प्रदर्शन ऐसी बड़ी सहकारिताके परिणाम हैं जो कि केवल स्थानमें ही नहीं वरन् समयमें भी विस्तृत हैं; इन प्रदर्शनोंको बनाने के लिए बहुतसे मस्तिष्कोंके विचारों और स्थायीभावोंका समागम, मिलन और संयोग हुआ; उनके लिए बहुत सी पीढ़ियों (generations) ने ज्ञान और अनुभवको एकत्रित किया है। अत: उनमें एक विशेष बौद्धिक क्रिया एकाग्रीभूत है, जो व्यक्तिकी बौद्धिक क्रियासे कहीं अधिक परिपूर्ण और जटिल है।" इस मतके अनुसार प्रदर्शनोंका एक स्वतंत्र अस्तित्व, उनके आधारसे एक प्रकार की स्वाधीनता, मानी जाती है: वह कुछ अंशमें स्वाधीन हैं और उनमें पारस्परिक आकर्षण और निषेध की और उनके प्राकृतिक सम्बन्धों और सामाजिक रचनाके द्वारा सदा निर्धारित सब प्रकारके संयोग बनाने की शक्ति है। दुर्खीम कहते हैं कि सामूहिक प्रदर्शनमें कुछ विचित्र विशेषताएं होती हैं। पहले तो वह व्यक्तिगत चेतनाके बाहरकी चीज़ हैं। व्यक्ति सामाजिक मस्तिष्कका केवल एक भाग सम्मिलित कर सकता है। जैसे विज्ञान एक विशाल सहकारिताकी उत्पत्ति है, और जो कुछ एक व्यक्तिगत मस्तिष्कमें हो सकता है उससे बढ़कर है। व्यक्तिके धार्मिक विचार बाहरसे आते हैं और उनमें कुछ स्वतंत्रता होती है। उसी प्रकार ऐसे सामाजिक

आन्दोलन या "लहरें" जो कि व्यक्तिसे आत्महत्या कराती है, किसी भी व्यक्तिगत चेतनाके बाहर हैं।

दूसरे सामूहिक प्रदर्शन, वैयक्तिक प्रदर्शनोंसे प्रकारमें भिन्न है। "समूह उससे बहुत भिन्न प्रकारसे सोचता, काम करता और अनुभव करता है जैसा कि इसके सदस्य अलग होते तब करते।" इस प्रकार समुदाय एक नई सत्ता की उत्पत्ति एक अपने ही प्रकारके आत्मिक (psychical) व्यक्तित्व की ओर ले जाता है, जिसके प्रदर्शनोंके आन्तरिक तत्त्व व्यक्तिगत प्रदर्शनोंसे भिन्न है। और फिर प्रत्येक समूहके अपने विशेष रूप हैं, जिनमें विभिन्न आदतें और आवश्यकताएं होती हैं, जो कि इसके सदस्योंकी संख्या, स्वदेश में उनकी स्थिति, और संचारविधियोंकी संख्या और प्रकृतिके अनुसार रूप ग्रहण करती हैं।

तीसरे, दुर्खीम सामाजिक मस्तिष्कको व्यक्तिके मस्तिष्कसे ऊँचा मानते हैं। वह सोचते हैं कि सामूहिक चेतना आत्मिक जीवनका सर्वोच्च रूप है, क्योंकि यह चेतनाओंकी चेतना है। यह व्यक्तिके लिए नैतिक रूपमें उच्च है, और धार्मिक पूजाके लिए निश्चय ही सच्चा उद्देश्य है। देवतुल्य समाज ईश्वर है; "समाज वास्तविक देवता है"।

विषय और रूप दोनोंमें व्यक्तिगत मस्तिष्क, सामाजिक मस्तिष्क या समाजका ऋणी है। दुर्खीम से इस बातका ठीक कथन प्राप्त करना कठिन है कि व्यक्तिगत प्रदर्शनका आन्तरिक तत्व ठीक-ठीक किससे बना है। देखने में वह शरीर-सम्बन्धी अनुभवों से पूर्ण है और सब बातोंके लिए व्यक्ति सामाजिक वातावरणका ऋणी है। रूपके सम्बन्धमें दुर्खीम मानते हैं कि समय, स्थान, परिमाण, कारणत्व आदि जो भी वर्ग (categories) मस्तिष्कमें हैं सबका मूल सामाजिक है। "वर्ग सामाजिक सत्ताके विभिन्न रूप हैं; पहले जातिवर्गको मानुषिक समूहके प्रत्ययसे पृथक् नहीं किया जा सकता था; यह सामाजिक जीवन की लय है जो समय-वर्गके आधार पर हैं; समाजके द्वारा प्राप्त प्रदेशसे स्थान वर्गके लिए सामग्री मिल गई; यह सामूहिक शक्ति है जो कार्यसाधक शक्तिके प्रत्यय (concept) की मूल प्रतिमा है; यह कारणत्व (causality) के वर्गमें सारभूत तत्व है। (V. R. 440)।

दुर्खीमका प्रदर्शन शब्दका प्रयोग वहां पर उस प्रकारकी अस्पष्टता दिखाता है, जिस पर एस्पिनेस सम्बन्धी विवादमें हममें ध्यान आकृष्ट कराया है। प्रदर्शनका अर्थ सचेतता(awareness)का काम या प्रणाली हो सकता है, या प्रणाली की विषय सामग्री जिसमें या जिसके द्वारा हम सचेत हैं। यह निश्चय करना कठिन है कि किस अर्थमें व्यक्तिगत मस्तिष्कका चेतना कार्य अपनेसे अधिक प्रारम्भिक अवस्थाओंके मिलन या मिश्रणकी उत्पत्ति कहा जा सकता है। दुर्खीम चेतनाकी अवस्थाओंको मिश्रित करनेके विचारका अनुसरण करते हुए मालूम पड़ते हैं और या हमें लूटमें भी मिलता है। परन्तु वैयक्तिक मस्तिष्कके सम्बन्धमें ऐसा मिश्रण होगा या नहीं, या दिखानेके लिये भी क्या प्रमाण है कि व्यक्तिगत मस्तिष्कोंके बीच ऐसा हो सकता है? ... प्रथम दृष्टिमें, पिछले मामलेमें आधारकी ऐसी कोई निरन्तरता नहीं जो एक व्यक्तिके मस्तिष्ककी सेलों(cells)की शारीरिक निरन्तरतासे कुछ भी सदृश हो, और मिश्रणका प्रयोग सिद्ध प्रमाण दिया नहीं है। सच यह मालूम होता है कि जब मिश्रण कहा जाता है तब वास्तवमें आन्तरिक तत्वोंकी ओर संकेत होता है। तब उनपर एक स्वतंत्र अस्तित्व और अपने सम्बन्धोंसे निर्धारित संयोग बनानेकी शक्तिका आरोपण किया जाता है। यह विषय सामग्री सामाजिक स्थितिके सम्बन्धमें आध्यात्मिक प्रश्न उठाता है, जिस पर यहां विवाद नहीं हो सकता। मैं प्रोफ़ेसर डॉवेस हिक्स* (Dawes Hicks) का पक्ष लेना चाहता हूं कि हमें ऐसे विषयोंमें प्रदर्शनके कार्यसे स्वतंत्र अस्तित्व आरोपण करनेका अधिकार नहीं है और उनके विषयमें मिश्रित होनेकी बात करना निरर्थक है; अत: यह सन्देहजनक है कि क्या अन्त:क्रियाके प्रत्यय में कोई सत्यता है। निस्सन्देह मस्तिष्क अन्योन्याश्रित, और दूसरोंके कार्योंसे प्रभावित है, परन्तु यह प्रभाव एक परोक्ष प्रकृतिका है। बातचीत तथा अन्य सांकेतिक संचारके द्वारा एक मस्तिष्कसे दूसरे लोगोंके वर्तमान या भूतकालके विचारों पर पुनर्विचार कराया जा सकता है, या दूसरोंके आदर्शों और प्रयोजनोंको ग्रहण कराया जा सकता है, और उनकी सिद्धिके लिए उन

---

* देखिए "द बेसिस ऑफ क्रिटिकल रियलिज़म," "प्रोसीडिंग्स ऑफ दि अरिस्टोटीलियन सोसाइटी," १९१६-१७।

लोगोंके साथ काम करनेको उकसाया जा सकता है। परन्तु ऐसे साधारण विचार या प्रयोजनमें मस्तिष्कोंके मिश्रणकी आवश्यकता नहीं होती। कदाचित् ऐसे शब्द जैसे मिश्रण या अन्त: क्रियाका मस्तिष्कके सम्बन्धमें प्रयोग करनेसे वास्तवमें कोई अर्थ नहीं होता।

दुर्खीम के मत पर दूसरा और कदाचित् उतना ही महत्वशाली आक्षेप यह है कि यदि बराबर प्रयोग किया जाये तो यह व्यक्तिके विलयन और सामाजिक मस्तिष्कमें उसके लवलीन होनेकी ओर प्रवृत्त होता है। "सब मानसिक प्रणालियोंसे, जो केवल हमसे और हमारे निजी जीवनकी घटनाओंसे सम्बद्ध है" (R. M. XI. 46) हमारा व्यक्तिगत मस्तिष्क बना मालूम होता है। परन्तु निश्चय ही आत्मविषयक ज्ञान भी सामाजिक बातों पर ही निर्भर और मस्तिष्ककी अवस्थाएं जो हमारी शरीर-रचनासे सम्बद्ध हैं उन इन्द्रिय-प्रत्यक्षों पर आश्रित हैं, जो इस अर्थमें पूर्णतया सामाजिक प्रकृतिके हैं कि वह दूसरोंके सामान्य प्रभाव और शिक्षाके कारण अनुमानों (inferences) और स्मृतियों (memories) पर आश्रित हैं, इससे पता चलता है कि वस्तुत: व्यक्तिगत प्रदर्शन जैसी कोई चीज़ नहीं है, अत: कोई व्यक्तिगत मस्तिष्क नहीं है, और यह वह मत है जिस पर दुर्खीम अनजानेमें ले गये हैं। व्यक्तित्वके अन्तर शारीरिक भावनाओंके अन्तरोंके कारण हैं। मस्तिष्क व्यक्तिगत शरीरमें अवतरित केवल सामूहिक चेतना है। "जैसे शरीर एक दूसरेसे पृथक् हैं और स्थान तथा समयकी विभिन्न बातों पर उनका अधिकार है उनमेंसे प्रत्येक एक विशेष केन्द्र बनाता है जिसके आसपास सामूहिक प्रदर्शन अपनेको विभिन्न प्रकारसे प्रतिबिम्बित और चित्रित करते हैं।" कुछ भी हो, व्यक्तिको आदि रचना (origination) की शक्ति नहीं है। यह विषय सामग्रीकी वास्तविकता मान लेने (hypostatization) और प्रणाली तथा कामके दृष्टिकोणसे मस्तिष्क पर विचार करनेका परिणाम है। विषय सामग्री प्रकृतिमें सार्वलौकिक हैं, परन्तु प्रणालियां व्यक्तिगतके अतिरिक्त और कभी कुछ नहीं हो सकतीं। यदि तुम और मैं उसी उद्देश्यके विषयमें सोच रहे हैं और उसी साधारण प्रयोजनकी प्राप्ति चाहते हैं जिसे हम नहीं जानते, तब दो प्रधान कठिनाइयोंसे पूर्ण है। पहले तो उसके वर्णनका वह प्रकार जिसमें वर्गोंका

प्रयोग सामाजिक सदृशोंके आधार पर होने लगा है, सारा प्रश्न प्रारम्भ करता हुआ मालूम होता है। समाज सम्बन्धी हमारे विचारोंमें वर्ग पहले से ही सम्मिलित हैं, और यह कहना कि उनका प्रयोग दूसरों तक है, उनके उद्भव सम्बन्धी आवश्यक प्रश्नको बिना हल किये ही छोड़ देना है। दूसरे यह मालूम होगा कि कठिनाईकी जड़ इस बातमें है कि दुर्खीम वर्गोंको प्रत्यय या सामान्य विचार मानते हैं, जिसके कारण वह उनके सामाजिक उद्भव पर अधिक ज़ोर देते हैं, जब कि यदि हम उन्हें कार्य सम्बन्धी नियमों तथा मस्तिष्कके अपने अनुभवोंको संगठित करनेकी विधियोंकी भांति देखें तो उन्हें व्यक्तिगत मस्तिष्कके निर्माणका विशेष अंग समझनेमें कोई कठिनाई नहीं है।

सामूहिक और व्यक्तिगत प्रदर्शनोंके बीच विषय-भेदके सम्बन्धमें, दुर्खीम बहुत ही अस्पष्ट है, जैसा कि व्यक्तिगत प्रदर्शनोंके लिए स्थान ढूंढनेकी उपरोक्त कठिनाईसे आशा की जायेगी। यह बात कि व्यक्ति अकेलेकी अपेक्षा समूहमें भिन्न व्यवहार करता है, इसको सिद्ध नहीं करती कि केवल समुदायके द्वारा एक नया मस्तिष्क उत्पन्न हुआ है। समूहमें विशेष अवस्थाएं क्रियाशील हैं, जैसे कि एक तरफ़ तो भीड़, झुंड और दूसरी ओर संगठित संस्थाएं, इससे अन्तरका कारण पता चल जाता है। इस प्रकार एक असंगठित भीड़में व्यक्ति, अन्य बातोंके अतिरिक्त, अधिक संकेत योग्य हो जाता है और संगठित संस्थाओंमें सामूहिक विवेचना और परस्पर विचार परिवर्तनके लिए एक साधन होता है। इन दोनों स्थितियोंमें जो बातें निर्दिष्ट की गई हैं, उन्हें समझानेके लिए किसी मनुष्याधिक मस्तिष्ककी जरूरत नहीं है।

अन्तमें, वह उच्चता जो दुर्खीम तथा अन्य लेखक सामाजिक मस्तिष्कमें मानते हैं, हमें आश्चर्य है कि वह किस प्रमाण पर आश्रित है? यदि सामाजिक मस्तिष्कका अस्तित्व है जो हमारे पास यह जाननेके लिए कोई सीधा तरीक़ा नहीं हैं कि वह क्या सोचता है, और यदि हम समाजमें क्रियाशील मानसिक शक्तियोंकी रचना पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि यह तत्वोंका एक पिण्ड है जिसमें ऐसे उद्देश्योंके स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण या, प्रयोजन की एकता बहुत कम है, जैसी कि हमें सर्वोत्तम या महत्तम व्यक्तिगत

मस्तिष्कों में मिलती है। उसपर विचार करिये जिसे कहते हैं लौकिक आदर्शवाद—सबसे क्षीण अर्थ वाले प्रत्ययोंके साथ सबसे अस्पष्ट आध्यात्मिक वृद्धिका मिश्रण — और इतिहासके महान् व्यक्तियोंकी शुद्ध दृष्टि और अचल भक्तिसे विरोधात्मक तुलना करिये ! परिणाम सामाजिक मस्तिष्क प्रशंसा नहीं है: और यह निःशंक कहा जा सकता है कि यदि हम कभी मस्तिष्कके आध्यात्मिक इन्द्रजालसे अलग हो जांयगे तो लौकिक मस्तिष्क की उच्चताका प्रत्यक्ष प्रमाण उपेक्षा करने योग्य मालूम होगा।

अब तक हम उन सिद्धान्तों पर विचार करते रहे जिनके अनुसार सामाजिक मस्तिष्क एक वास्तविक सामूहिक चेतनाका निर्माण करता है। कमसे कम कुछ समयके लिए डा० मैक्ड्यूगलने सामूहिक चेतनाके सिद्धान्तको इस अर्थमें अस्वीकार किया है कि समाजकी ऐक्कि चेतना इसको बनाने वाले व्यक्तियों की चेतनाके अतिरिक्त है। फिर भी उनके विचारमें एक सामूहिक मस्तिष्क है। मस्तिष्कसे उनका तात्पर्य मानसिक और प्रयोजनपूर्ण शक्तियोंकी संगठित पद्धति है, उनके विचारसे इस अर्थमें यह कहा जा सकता है कि समाजमें सामूहिक मस्तिष्क है क्योंकि वास्तवमें समाज वह संगठन है जिसका वर्णन और कारण मस्तिष्कके शब्दोंमें ही हो सकता या बताया जा सकता है अर्थात् यह व्यक्तिगत इकाइयोंके बीच सम्बन्धोंकी पद्धतिसे बना है, जो सामाजिक मस्तिष्ककी इकाइयां है इस बातके माननेके तीन कारण हैं। पहले तो वह तर्क करते हैं कि समाजको बनाने वाले वैयक्तिक मस्तिष्क एक दूसरेको उपलक्षित करते और पूरक हैं। उनके बीचके सम्बन्ध स्वाभाविक हैं, वह यथार्थमें व्यक्तिगत मस्तिष्कके अंग हैं, अतः समाज, अर्थात् सम्बद्ध-मस्तिष्क पद्धति, उसी सामग्रीसे पूर्ण हैं जो व्यक्तिगत मस्तिष्कमें है, "केवल मस्तिष्कके शब्दोंमें ही इसका वर्णन किया जा सकता है"। कुछ भी हो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि समाज एक मस्तिष्क बनाता है। क्योंकि, स्पष्टतया, यद्यपि समाजका वर्णन करनेंके लिए हम मस्तिष्कके शब्दोंमें बात करते हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि मस्तिष्कोंके अन्तःसम्बन्धसे बनने वाली पद्धति स्वयं उतनी ही एक मस्तिष्क है जितना कि ईंटोंसे बना घर स्वयं एक ईंट है। अतः मैक्ड्यूगल तर्क करते हैं कि दूसरे किसी भी क्षण समाजमें प्रवेश करने वाले व्यक्तिगत मस्तिष्क इसे नहीं बनाते, बल्कि इसकी प्रचुर और सूक्ष्म शक्तियां इसे

आकार देतीं और ढालतीं हैं। समाज "शक्तियोंकी एक संगठित पद्धति है, जिसका अपना जीवन, अपनी प्रवृत्तियां, अपने सदस्योंको ढालनेकी शक्ति आत्मसदृश पद्धतिकी भांति अपनेको चालू रखनेकी शक्ति है, जिसमें केवल धीमा और क्रमिक परिवर्तन हो सकता है।

तीसरे, दुर्खीमके समान माना जाता है कि उन सम्बन्धोंके अभावमें जिनसे समाज बनता है, जिस प्रकार व्यक्ति प्रतिक्रिया करेंगे उन कार्योंके "केवल जोड़े" से समाजके कार्य भिन्न होते और हो सकते हैं। "जहां तक एक व्यक्ति समाजके सदस्यके रूपमें सोचता या कार्य करता है, उसका कार्य और विचार अकेले व्यक्तिकी भांति करने और सोचनेसे बहुत भिन्न है।" (पृष्ठ ९-१०), इसके साथ यह तर्क भी सम्बद्ध है, और जिस पर दुर्खीमने भी ज़ोर दिया है कि समाज अपने अंगोंके केवल जोड़से "बड़ा" है। मैक्ड्यूगल यहां तक तर्क करते हैं कि बहुत अच्छी तरह संगठित समाज बुद्धि और नीतिकी उस ऊंची मात्राको प्राप्त कर लेते हैं जो इसके औसत सदस्योंके स्तरसे ऊंची है और इसके सर्वोच्च सदस्योंके स्तरसे भी (पृष्ठ ५३)।

जर्मन आदर्शवादसे अपने मतको अलग करने लिए मैक्ड्यूगल बहुत अधीर है, परन्तु यह देखना कठिन है कि जिस अन्तर पर वह इतना ज़ोर दे रहे हैं वह वास्तवमें किस जगह है। वह अनुमोदन सहित श्री बाकर्र के कथनको उद्धृत करते हैं कि एक सामाजिक मस्तिष्क होता है जो "अपने सदस्योंके पृथक् मस्तिष्कोंमें और उनके साथ रहता है, और वह उन **मस्तिष्कोंके किसी भी जोड़के द्वारा उत्पन्न मस्तिष्कसे अधिक** है, और वह किसी भी मात्रामें सुसंगठित समाजके सामाजिक मस्तिष्कमें ऐसी बुद्धि और नीतिका आरोपण करते हैं जो इसके औसत क्या सर्वोत्तम सदस्यसे भी बढ़कर है। विभिन्नताका केवल एक विषय स्पष्ट किया गया है कि डा० मैक्ड्यूगल सामूहिक चेतनाके उस सिद्धान्तको नहीं मानते जिसका श्रेय वह आदर्शवादियोंको देते हैं। परन्तु इसमें सन्देह है कि आदर्शवादियोंने कभी ऐसा सिद्धान्त माना भी है। यह हीगेल में नहीं मिलता और डा० बसांक्वे (Bosanquet) ने तो इससे साफ़ इन्कार किया है ("Mind" Jan. 1921, P. 64)। दूसरी ओर यह बताना चाहिए कि यद्यपि डा०

मैक्‌ड्यूगल सामूहिक चेतनाके विचारको नहीं मानते वह बराबर ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे ऐसी चेतनाका अस्तित्व उपलक्षित होता है, जैसे कि जब वह मैकाइवर (MacIver) के विरुद्ध दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि जाति कार्य करती, अनुभव करती, इच्छा करती और सोचती है (पृष्ठ, ९, १०): सच यह है कि मैक्‌ड्यूगल सामाजिक मस्तिष्कके भिन्न प्रत्ययोंके साथ कार्य कर रहे हैं। पहले तो हम उस पदसे यह समझ सकते हैं कि वह उस समाजको सूचित करता है जिसमें सामूहिक भावना बहुत उन्नत है,

. मैक्‌ड्यूगल के सिद्धान्तमें यह वह समाज है जिसमें प्रत्येक सदस्य का दीर्घकालीन सम्पर्क होनेके कारण समूह सम्पूर्णके विषयमें एक निश्चित विचार हो गया है, और उस सम्पूर्णके सम्बन्धमें एक प्रबल स्थायी भाव बन गया है, जिसका कारण है उसके आत्म सम्बन्धी स्थायी भावका इतना विस्तार कि उसमें समूह-सम्पूर्णको रुचियां सम्मिलित हो सकें। परन्तु सामाजिक मस्तिष्कका दूसरा तात्पर्य इस प्रकार हो सकता है कि सब सदस्योंके मस्तिष्कमें सम्पूर्णका इस प्रकारका विचार होना आवश्यक नहीं है, परन्तु यह कि सामूहिक जीवन विचारों, रुचियों और मूल्यों पर आश्रित है जो एक सम्बद्ध पद्धति बनाते हैं और जो किसी एक व्यक्तिके मस्तिष्क की उत्पत्ति नहीं है।

अब पहलेके सम्बन्धमें, मैक्‌ड्यूगल के परोपकारी सिद्धान्तकी प्रकृति और विकासके वर्णनको आवश्यक रूपसे ग्रहण किए बिना ही इस पर हम सहमत हो सकते हैं कि कुछ समाज ऐसे हो सकते हैं जिनमें सदस्योंके विचार समूह-सम्पूर्णके विषयमें स्पष्ट हों और वह अपनी और सम्पूर्णकी भलाईको समान समझ सकें। कुछ कुटुम्बोंके लिए यह सच हो सकता है। परन्तु राष्ट्रीय मस्तिष्कके वर्णनकी भांति यह सच्चाईके अनुरूप नहीं मालूम होता। यदि एक राष्ट्रका अस्तित्व तभी होता है जब इसके सब सदस्योंके मस्तिष्क में राष्ट्र-सम्पूर्णका विचार है और जब कि वह अपने और इसके लाभको अभिन्न मानते हैं, तब तो भारत, ब्रिटेन आदि राष्ट्र नहीं हैं। राष्ट्रीय मस्तिष्क, यदि यह वाक्य खंड समाजमें क्रियाशील विचारोंके ढेरके लिए जरा भी मान लिया जाए तो, यह अपने सिद्धान्तकी अनुमतिसे कहीं अधिक जटिल और परिवर्तनशील है। दूसरी ओर, यदि हम सामाजिक मस्तिष्कके

दूसरे और अधिक स्थूल प्रत्ययके पक्षमें रहना चाहें तो डा० मैक्ड्यूगल का मत आदर्शवादियोंके मतसे, जिसे वह बुरा कहते हैं, भिन्न नहीं है और इसका भी आदर्शवादियोंके मतकी भांति विरोध हो सकता है जैसे यद्यपि यह सत्य है कि समाज विचारों, प्रयोजनों और रूढ़ियों पर आश्रित है, जो कि एक महान् सहकारिताका परिणाम है। और जो एक व्यक्तिके मस्तिष्ककी उत्पत्ति नहीं हैं, तथापि समाजमें उस प्रकारकी एकता नहीं है जो एक व्यक्तित्व के अंगोंको एक साथ बांधती है। यह सिद्धान्त विशेषकी एकता और प्रणाली की एकताको गड़बड़ा देती है। और सबके ऊपर यह कि इस अध्यायके प्रारम्भमें गिनाए गए सब आपत्तिपूर्ण परिणाम इसके साथ चलते हैं, जैसा कि मैक्ड्यूगल और आदर्शवादी दोनोंने समान रूपसे चित्रित किया है।

इस बात पर आश्रित तर्क भी अस्पष्ट है कि सामाजिक मस्तिष्क "अपने अंगोंके जोड़" से अधिक श्रेष्ठ है। पहले तो हम इससे यह समझ सकते हैं कि एक बहुत सुसंगठित समूह जिन नैतिक और बौद्धिक निर्णयों पर पहुंचता है वह इसके कोई भी सदृश्यका सर्वोत्तम सदस्योंके भी अकेलेमें किए निर्णयों से श्रेष्ठ हैं। यह प्राय: दृढ़तासे कहा गया है, परन्तु वह सन्देहपूर्ण है कि सदैव या बहुधा भी ऐसा होता है। विशेषकर जटिल समाजोंमें इसके सबसे महान् सदस्योंके मतोंसे दृष्टिकी स्पष्टता और महत्त्वमें सार्वजनिक निर्णय बढ़कर नहीं होते। परन्तु जहां तक यह श्रेष्ठता (superiority) प्रदर्शित होती है इसका कारण साधारणतया सहकारिता और यह बात है कि जहां सामूहिक विवेचनके साधन अच्छे हैं वहां समाजके सदस्योंको एक दूसरेसे सीखनेकी सम्भावना है, और वह एक दूसरेको ऐसी बातें सुझा सकते हैं जिस पर उन्होंने ध्यान न दिया हो। यह नहीं समझमें आता कि इस सम्बन्धमें सहकारितामें काम करते हुए बहुतसे मस्तिष्कोंके अतिरिक्त और किसी अर्थ में सामाजिक मस्तिष्ककी क्या आवश्यकता है। परन्तु दूसरे स्थान पर हम इस श्रेष्ठतासे यह अर्थ समझ सकते हैं कि सामाजिक रूढ़ियां, बौद्धिक और नैतिक संस्थाएं आदि किसी एक मस्तिष्ककी उत्पत्ति नहीं हैं और गुरुत्व तथा महत्त्वमें किसी भी एक मनुष्यके मस्तिष्कके आन्तरिक तत्वोंसे बढ़कर हैं। परन्तु निश्चय ही रूढ़ियां और संस्थाएं स्वयं कुछ नहीं हैं। वह पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित रक्खी जातीं और उनकी फिरसे व्याख्या की जाती है,

और यद्यपि उनके आन्तरिक तत्व किसी भी व्यक्तिगत मस्तिष्कके तत्वोंसे बढ़कर है, वह सहकारितामय व्यक्तिगत मस्तिष्कोंसे बढ़कर नहीं है।

मैक्ड्यूगल यह तर्क बहुत देते हैं कि समाजका एक मानसिक जीवन होता है, जो कि स्वतंत्र इकाइयोंकी भांति रहनेवाली इसकी इकाइयोंके मानसिक जीवनोंका केवल जोड़ नहीं है, और यह कि हम इसकी इकाइयोंकी प्रकृतिका अनुमान नहीं लगा सकते, परन्तु मुझे यह तर्क बिल्कुल मौखिक लगता है, हमें व्यक्तिगत इकाइयां सब सामाजिक सम्बन्धोंसे पृथक् रूपमें कभी नहीं मिल सकतीं। फिर मैक्ड्यूगल स्वयं मैकाइवर से इस बातमें सहमत हैं कि सामाजिक सम्बन्ध व्यक्तिके लिए स्वाभाविक हैं और केवल उसके अन्दर ही रहते हैं, परन्तु यदि हम उस रूपमें व्यक्तियोंको सोचें जैसे कि हम उन्हें देखते हैं, अर्थात् समूहोंके सदस्योंकी भांति और दूसरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले तो समाजमें समूह-निर्मित व्यक्तिगत मस्तिष्कोंके अतिरिक्त क्या है? यह विचार कि हमें अकेले व्यक्तियोंका "केवल जोड़" मिल सकता है, और हम उसकी विरोधात्मक तुलना स्थूल सामाजिक सत्तासे कर सकते हैं, एक निष्कारण कल्पना है, जिसका मेरे विचारमें कोई अर्थ नहीं है।

वर्तमान समाजोंमें समूहोंके कटाव (intersection) और जटिलता पर आश्रित सामाजिक मस्तिष्कोंके विरोधी तर्कको काटनेमें भी मैक्ड्यूगल सफल नहीं हुए। मैकाइवर जोर देते हैं कि "सब प्रकार और सब मात्राके सार्वलौकिक सामाजिक संगठन होते हैं। यदि इंगलैंडमें एक सामूहिक मस्तिष्क है तो बर्मिंघममें क्यों नहीं है, और इसके प्रत्येक वार्डमें क्यों नहीं है? यदि एक राष्ट्रमें सामूहिक मस्तिक है तो चर्च और ट्रेड यूनियनमें भी है। और हमारे सामने ऐसे सामूहिक मस्तिष्कोंके अंग होंगे और ऐसे सामूहिक मस्तिष्क होंगे जो अन्य सामूहिक मस्तिष्कोंको काटते हैं।" इसको डा० मैक्ड्यूगल का यह उत्तर है, "इसका मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। समाजमें सामूहिक मस्तिष्क है यह कहनेके पहले संगठनकी किस मात्राकी आवश्यकता है, यह मात्राका एक प्रश्न है, और सामूहिक मस्तिष्कके अर्थ-प्रदर्शक (exponent) के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह इस प्रश्नका बिल्कुल सही उत्तर दे" (पृष्ठ ११)। परन्तु मुझे मालूम है कि, क्योंकि

वही व्यक्ति एक ही समयमें विभिन्न समूहोंके सदस्य होते हैं अतः सामाजिक समूह एक दूसरेको काटते और ढक भी लेते हैं। यह इस बातको इंगित करता है कि यह समूह व्यक्तिके जीवनके कुछ भाग ही प्रदर्शित करते हैं, अतः उनमें **उसी प्रकार** की एकता या ठोसपन नहीं है जैसा कि व्यक्तिगत मस्तिष्कोंमें है। यह इतनी ही महत्वशाली दूसरी बात पर भी ध्यान दिलाता है कि सामाजिक समुदायोंकी सदस्यताके शब्दोंमें जो कुछ प्रदर्शित किया जा सकता है, व्यक्ति उससे कहीं अधिक है, और उसमें एक प्रकारकी एकता, सत्ताका अन्तर्भाग है, जो इन सदस्यताओंमें समाप्त नहीं हो जाता। जहां तक मुझे मालूम है दुर्खीम और अन्य बहुतसे लेखकोंकी अपेक्षा मैक्ड्यूगल का सामूहिक मस्तिष्कका विश्लेषण कुछ बातोंमें अधिक मूल्यवान् है। जैसे वह सामूहिक समुदायोंकी विभिन्न प्रकारकी मानसिक शक्तियोंकी विभिन्नताओं पर विचार करते हैं और वह तरीका बताते हैं जिसमें हम उन्नतिशील मानसिक विकास और समाजके चेतन-शासनके तत्वोंको समझ सकें। फिर भी यह सामाजिक मस्तिष्कके जो विभिन्न प्रत्ययोंमें डगमगाते हुए मालूम होते हैं, और यद्यपि वह सामूहिक चेतनाके प्रत्ययको नहीं मानते फिर भी ऐसे शब्दोंका वह प्रयोग करते हैं जिनसे ऐसी चेतनामें विश्वास उपलक्षित होता है। कदाचित् इस बातने उन्हें व्यक्तिगत मस्तिष्क पर सामाजिक मस्तिष्ककी श्रेष्ठताका आरोपण करनेको प्रेरित किया, जैसा कि उनके जनमत सम्बन्धी विवादमें है, और सम्पूर्णकी भलाईके विपरीत इसके सदस्योंकी भलाईकी विरोधात्मक तुलनामें है।* कुछ हद तक यह उनकी वास्तवमें धनिक और स्थितिपालक प्रवृत्तिका कारण भी है, क्योंकि सामाजिक मस्तिष्क अपने लिए नहीं बोल सकता, और जातिके "सर्वोत्तम" तत्वों द्वारा सर्वोत्तम रूपमें समझाया जाता है।

अब तक हमारे वर्णनसे सामाजिक मस्तिष्ककी प्रकृति सम्बन्धी कोई सम्बद्ध विचार नहीं निकला। परन्तु सामाजिक मस्तिष्कके सिद्धान्तों पर वास्तविक समस्याको समझनेके लिए, विस्तारसे विचार किया गया था, जैसे सामाजिक सम्पूर्णोंकी वास्तविकताके प्रकारकी समस्या। वह स्पष्टतया

---

* देखिए "ग्रूप माइंड" पृष्ठ १७२।

मस्तिष्ककी एकता है, क्योंकि वह अन्तर्सम्बद्ध मस्तिष्कोंसे बनी हैं, और स्वयं सम्बन्ध भी मानसिक बातों पर निर्भर हैं। फिर भी, जातिको मस्तिष्क मानना ग़लत मालूम होता है, जैसे कि जातीय सम्पूर्णोंको जीवधारी मानना, यद्यपि उनके बनानेवाले भागोंके सम्बन्ध चेतनायुक्त (organic) हैं। जैसा कि प्रो० हॉबहाउस ने कहा है, "सामाजिक अनुसन्धानकी हानि इतनी किसी चीज़से नहीं है जितनी कि टेकनिकल (technical) शब्दोंके या उनके स्थानमें उचित पर्यायवाची शब्दोंके अभावसे है। इसे दूसरे विज्ञानों में समझाए गए प्रत्ययों और अनुभावोंके दूसरे क्रमोंके तद्भव (derived) शब्द प्रयुक्त करने पड़ते हैं। हमें वह पद त्याग देना चाहिए, जो जिस विशेष सामाजिक सम्पूर्ण पर हम विचार कर रहे हैं उसकी अपेक्षा किसी अन्य सम्पूर्ण की एकता सूचित करता हो।"* विभिन्न प्रकारके सामाजिक समुदायों द्वारा प्राप्त एकताकी विभिन्न मात्राओंको पृथक् करनेकी अवहेलना गड़बड़ीका एक प्रधान उद्गम है।† जैसे, एक भीड़में एक एकता है जिसका कारण अवधान (attention) का साधारण उद्देश्य, और उद्देश्यमें अधिकांश सदस्योंके लिए आकर्षण शक्ति है, जिसका आधार उनका पूर्वानुभव, पैतृक या प्राकृतिक विशेषताएं आदि हैं। परन्तु यह एकता अपेक्षाकृत सरल है, और इसमें अंग-अंगकी वह कोमल और सूक्ष्म अनुकूलता और परस्पर क्रिया नहीं दिखाई पड़ती जो उन्नत जीवधारियोंमें दिखती है। यह संकेतके द्वारा प्राप्त एकता है अर्थात् एक प्रबल संवेगशील प्रवृत्तिको अपील करनेसे और विरोधी प्रवृत्तियोंके निग्रह (inhibition) से। यह बात नहीं है कि वहां व्यक्तियोंका मिश्रण है या किसी रहस्यमय सामूहिक चेतनाओंकी एक क्रियाशीलता है, वरन् परिस्थितियोंके अन्दर प्रत्येक व्यक्ति कम विवेचक, कम उत्तरदायी, अधिक विश्वस्त, अधिक श्रद्धालु और अधिक संकेत-योग्य हो जाता है। निस्सन्देह प्रत्येक व्यक्ति अकेलेकी अपेक्षा भीड़में भिन्न प्रकारसे अनुभव करता, सोचता और कार्य करता है। परन्तु अन्तर केवल विभिन्न

---

* "दि मेटाफ़िजिकल थियरी ऑफ़ द स्टेट" पृष्ठ १३१।

† डा० मैक्ड्यूगल ने तो भीड़ और संगठित समाजके अन्तर पर जोर दिया है।

वातावरणोंमें प्रतिक्रियाका है और निश्चय ही इसकी व्याख्याके लिए एक रहस्यमय साधारण (common) मस्तिष्कको, जो किसी न किसी प्रकार से समुदायके द्वारा उत्पन्न हुआ है, अपील करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अधिक संगठित समूहोंमें और बातें भी काम करती हैं। समुदायोंके सम्बन्ध और एकता स्पष्टताकी उस मात्रा पर, जिससे इसके सदस्य विशेष समुदायोंके प्रयोजनको समझते हैं और स्थायीभावोंकी उस शक्ति पर जिसका विकास प्रत्येकने कर लिया है, तथा संवेगशील जोश जिसके द्वारा यह इसकी और अपनी रुचियोंको सदृश मानते हैं, आश्रित हैं। अधिकांश समुदायोंमें उद्देश्यकी स्पष्टता और संवेगशील अनुरागकी एक ऊंची मात्रा केवल कुछ सदस्योंमें ही मिलती है, जब कि शेष सदस्य आदत, संकेत और कदाचित् इसके लिए अस्पष्टतया अनुभूत आवश्यकताके कारण रक्खे जाते हैं। साधारण (common) प्रयोजन और साधारण स्थायीभावोंको कुछ भी हो अपनी व्याख्याके लिए साधारण मस्तिष्ककी आवश्यकता नहीं है। वह उन्हीं या समान उद्देश्योंके सम्बन्धके माने गए विचार और अनुभूत स्थायी भाव हैं। केवल प्रणाली और अन्तर्गत तत्वकी गड़बड़ीके कारण मस्तिष्कको अपील करनेकी आवश्यकता होती है। कुछ भी हो समुदायोंकी आंगिक (organic) प्रकृतिकी बहुत अतिशयोक्ति की गई है और निश्चय ही उसमें वह स्वतंत्र निरंतरता नहीं है जो व्यक्तिगत मस्तिष्ककी विशेषता है। उस प्रकारकी वास्तविकता जो जातिमें होती है, समुदाय जिसके केवल अंग हैं जो इनके अतिरिक्त, संगठनके बाहरके व्यक्तियोंकी अनुरूपता और संघर्ष, प्रतियोगिता और सहकारिताको सम्मिलित करती है, उसकी परिभाषा करना बहुत जटिल और कठिन है। यह कहनेसे कि मस्तिष्क है कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। यह हजारों लाखों अन्तर्क्रियाओं, रुचियोंकी भूल-भुलैया, विरोधी और पूरक, विचित्र विभिन्नता सहित एकतामें एकतासे बनी है। भीड़के अन्दर एक व्यक्तिसे दूसरेका सम्बन्ध उन सम्बन्धोंसे भिन्न है जो उसे अपने समुदायके बन्धनमें बांधते हैं। यह सम्बन्ध फिर एक समुदायसे दूसरेमें भिन्न होते हैं, जिसका आधार उसको बांधनेवाले बन्धनोंकी निकटता और वह सम्बन्ध है जो उसे सम्पूर्ण जातिसे बांधते हैं। अतः यह अवश्य मान लेना चाहिए कि जितना सामाजिक मस्तिष्कका सिद्धान्त स्वीकार

करेगा उसकी अपेक्षा उन सामाजिक सम्पूर्णों से व्यक्तिके सम्बन्धकी समस्या, जिनका वह सदस्य है अधिक जटिल है। इन सम्बन्धोंका अधिक निश्चित वर्णन देनेका आगे प्रयत्न किया जायेगा। इस बीचमें हम यह ध्यान रख सकते हैं कि साधारण मस्तिष्ककी कल्पनामें वास्तवमें निम्नलिखित तत्त्व सम्मिलित हैं:

१. एक समाजके सदस्योंके साधारण (common) मानसिक तत्त्व, पैतृक रचनाके कारण प्रतिक्रियाकी रीतियां, जीवन विशेषताएं आदि।

२. साधारण रूढ़ियां, नैतिक और बौद्धिक, (क) पुस्तकों, संस्थाओं, विधियों (laws) और आचारों आदिमें समाविष्ट, (ख) जनमत के द्वारा अर्द्ध प्रकाशित या ठोस नहीं वरन् "उतराती हुई" (floating), कला और साहित्यमें प्रवृत्ति, लोकप्रिय आन्दोलन।

३. सामाजिक स्थायी भाव अर्थात् राजभक्तिके स्थायी भाव व्यक्तिगत मस्तिष्कमें रहनेवाले और जिनका केन्द्र विभिन्न प्रकारके सामाजिक समुदायोंको चारों ओरसे घेरे हुए हैं। विशेषकर सामाजिक समुदाय, सामाजिक मस्तिष्कके सिद्धान्तको सत्यसदृश बना देते है, क्योंकि हम जिस प्रकार एक व्यक्तिके प्रति राजभक्ति (loyalty) का अनुभव करते हैं उसी प्रकार समूहके प्रति कर सकते हैं। फिर भी यह याद रखना चाहिए कि जो सामाजिक मस्तिष्कके सिद्धान्तको नहीं मानते हैं वह सामाजिक समूहोंकी वास्तविकतासे इन्कार नहीं करते। वह उतने ही वास्तविक हैं जितने कि उनको बनानेवाले व्यक्ति, और कुछ प्रयोजनोंके लिए, जैसे वैध (legal) और नैतिक कर्त्तव्य, वह व्यक्तिकी भांति माने जा सकते है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह वास्तवमें व्यक्ति या मस्तिष्क हैं। उन साधारण तत्वोंके सम्बन्धमें, जो कि ऊपर दूसरे और पहले समूहमें इंगित किए गए हैं, वह वर्णन दिया जायेगा, सामाजिक मस्तिष्कको उपलक्षित नहीं करता, और यह दिखाया जायेगा कि मस्तिष्ककी कोई भी एकता उन साधारण तत्वोंके अनुकूल नहीं है। इन प्रश्नों पर विचार करनेके पहले सामान्येच्छा (general will) के सिद्धान्त पर, जो सामाजिक मस्तिष्क के विस्तृत सिद्धान्तसे सम्बद्ध है, विचार करना अच्छा होगा। इसके लिए अगला अध्याय देखना है।

अध्याय ५

सामान्येच्छा का प्रत्यय

सामान्येच्छाके प्रत्ययका राजनीतिक दर्शन (philosophy) में, रूसो के समयसे लेकर अब तक, एक प्रधान भाग रहा है। प्रधानतया इसका प्रयोग इस आधारकी भांति किया गया है जिसे प्रभुत्व (sovereignty) और विधि (law) का अद्वैत (monistic) सिद्धान्त कहा जा सकता है, परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि उनमें से बहुतसे जो आजकल राज्यके अन्दर छोटे समुदायोंके अधिकारों पर ज़ोर दे रहे हैं, उसका आधार यह है कि यह छोटे समुदाय अपनी एक "वास्तविक" या सामान्येच्छा रखते है,* इस विषय पर और तत्सम्बन्धी समुदाय-व्यक्तियोंकी समस्या पर अथाह साहित्य है, परन्तु वास्तविक सहानुभूति युक्त विश्लेषण पर बहुत प्रयत्न नहीं हैं। इस अध्यायका उद्देश्य इनमेंसे कुछ समस्याओं और विशेषकर वास्तविक इच्छा के सिद्धान्त पर जैसा कि प्रोफ़ेसर बसांक्वे ने किया है, आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करना है। निर्दिष्ट प्रयत्न पांच समूहोंके अन्दर आते हैं। जो न्यूनाधिक स्पष्ट हैं, यद्यपि वह परस्पर निवारक (exclusive) नहीं हैं और विवादकी सरलताके लिए उन पर अलग-अलग विचार किया जाएगा।

पहले तो सामान्येच्छाकी सत्ता तब समझी जाती है जब कि एक समूह या समाजके प्रत्येक व्यक्ति, या ऐसे समाज या समूहके दृढ़ बहुमतको समूह सम्पूर्णका विचारों और वह अपनी और सम्पूर्णकी भलाईको एक ही समझता

---

* देखिए Gierke, "Genossenschaftsrecht," vol. 3 और "Das Wesen der Menschlichen Verbande"; Maitland's Introduction to Gierke's "Medieval Political Theories"; Figgis, "Churches in the Modern State"; और, गिल्ड समाजवाद सम्बन्धी बहुतसा साहित्य।

हो। यह डा० मैक्ड्यूगल का सा मत मालूम होगा। कभी-कभी जैसा कि नॉविकॉव (Novicov) के साथ है, सम्पूर्ण-सम्बन्धी ऐसे विचारकी उपस्थिति समाजके केवल उत्तम व्यक्तियों अर्थात् एक जातिमें विचार और क्रियाके यथार्थ नेताओं (यह आवश्यक नहीं कि सरकार हो) के सम्बन्धमें आवश्यक होती है। नॉविकॉव के विचारमें ("Conscience et Volonté Générale") समाज एक आत्मिक प्राणी है और सामाजिक उत्तमजन (elite) उसके लिए ऐसा साधारण ज्ञान-स्थान बनाते हैं, जो एक जीवधारीमें मस्तिष्कके सदृश है।

दूसरे, एक इच्छा तब सामान्य कही जाती है जब विचारपूर्ण विवाद के द्वारा एक ऐसे निर्णय पर पहुंचते हैं जिसका लक्ष्य विभिन्नताओंका वास्तविक संयोग अर्थात् समूहके प्रत्येक सदस्यके कार्यांशका प्रयोग करना न कि व्यक्तिगत इच्छाओंको केवल मिलाना है। स्पष्टतया वह प्रो० मैकेंजी (Mackenzie) का मत है जिसके अनुसार सामान्येच्छाके विचारमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं: (१) एक निर्णयमें अनेक लोगों का संयोग; (२) यह बात कि सम्पूर्ण समूहकी भलाई, और न कि केवल व्यक्तिगत इच्छाओंके सन्तुलनको दृष्टिमें रखकर निर्णय किया गया है। इन दशाओंमें से पहलीको निर्णयकर्त्ता अस्पष्ट अभिलाषा या भावनाकी श्रेणी में डाल देते हैं, कि यह जिनको प्रभावित करती है उनके दृष्टिकोणके अनुरूप होगी। जब यह विशिष्टता कर दी जाती है, तो यह स्पष्ट है कि अधिकतर स्थितियोंमें निर्णय तुलनात्मक दृष्टिसे थोड़े व्यक्तियोंके द्वारा किया जाता है, यद्यपि जहां तक उन अधिकांश लोगोंके मतों और अभिलाषाओंका पता लगाया जा सकता है, जिनके लिए यह कार्य हो रहा है, उसका ध्यान रख लेते हैं। इस अर्थमें यह शब्द सीधा है परन्तु विशेष आवश्यक नहीं। बल्कि कहनेका यह कुछ गड़बड़ तरीका है जैसे कि सरकारके कार्य अधिकांश जनता की किसी भी प्रकारकी अनुमति, सक्रिय या निष्क्रिय, पर आश्रित होने चाहिएं; इनमें यह दोष है कि यह वह बात छिपाता है कि वास्तविक समूहोंमें, विशेषकर राज्योंमें, जो कार्य किया जाता है वह प्रायः बहुमतकी सर्वसम्मति पूर्ण सहकारी अनुमतिका परिणाम नहीं वरन् तुलनात्मक दृष्टिसे केवल थोड़ेसे लोगोंका होता है। कुछ लेखकों जैसे कुमारी फ़ॉलेट

(Follett) के द्वारा विभिन्नताओंके उपरोक्त सम्मिलनको मस्तिष्कोंके "संगम" के या चेतनाकी अवस्थाओंके मिश्रण सिद्धान्तसे सम्बद्ध किया जा सकता है, और उस स्थितिमें सामान्येच्छा एक यथार्थ सत्ता बनाती हुई, जो कि व्यक्तिगत मस्तिष्कोंकी व्याख्याका परिणाम या उत्पत्ति है जिसे सामाजिक प्रणाली कहते हैं, समझी जा सकती है।

तीसरे, यह माना जाने लगा है कि समाज सम्पूर्ण और सामाजिक लाभ सामाजिक विकासकी उच्चतम अवस्थाओंमें ही चेतनाके साधारण आन्तरिक तत्व हो सकते हैं।* फिर भी यह माना जाता है कि सब समाजोंमें, जिनमें कुछ निरन्तरता और स्वतंत्रता है, विचार और इच्छाके कुछ अन्य साधारण आन्तरिक तत्व (contents) भी होने चाहिएं। परिणाम स्वरूप इसके सदस्य जब समान परिस्थितिका सामना करें या समान पदार्थोंसे उत्तेजित हों तो समान आन्तरिक प्रतिक्रिया करेंगे। एक राष्ट्रके जीवनमें ऐसे क्षण या काल हो सकते हैं, यह माना जाता है, जब विचार, भावना और इच्छा का समुदाय छोटा हो, तब सामाजिक आत्म-चेतना सबसे कम होती है। यह व्यक्तियोंके साथ भी है, सिवाय इसके कि उनके लिए चेतन क्रियाके क्षण जल्दी-जल्दी आते हैं और तुलनात्मक दृष्टिसे देर तक ठहरते हैं। इस मत के अनुसार व्यक्तिगत स्वयं (self) को चेतनाके कुछ अस्थायी और अस्थिर आन्तरिक तत्वोंका अधिक स्थिरके साथ संयोग माना जाता है। यह स्थिर आन्तरिक तत्व इस प्रकारके हैं जैसे आन्तरिक जीवनके कुछ स्थायी सम्बन्धमें कुछ शारीरिक अनुभव। इस संयोग या मिलनके द्वारा स्थिरको परिवर्तनशीलके विरोधमें स्थापित कर देते हैं और इस प्रकार वह अधिक स्पष्ट हो जाता है जिसका परिणाम आत्म चेतना है। इसी प्रकार समाजमें चेतनाके कुछ आन्तरिक तत्व हैं जो न्यूनाधिक स्थायी और स्थिर हैं, जैसे साधारण (common) भूतकालकी चेतना और रूढ़ियां, जो कि साधारण मस्तिष्कके आधार पर हैं, और जब इनके विरोधमें एक नया अनुभव, कदाचित् उनको धमकी देता हुआ, आता है, समाज आत्मा-चेतन और आत्म-चेतन इच्छाक्रियाके योग्य हो जाता है। फ़ारस वालोंके विरुद्ध

* देखिए Barth, "Geschichte der Philosophie als Soziologie."

ग्रीस वालों और नेपोलियन के विरुद्ध जर्मनोंकी तुलना करो।

इन मतों पर विचार करनेमें हमें आरम्भसे ही दो विशेष विभिन्नताओं पर ध्यान देना चाहिए। पहले तो हमें इच्छा कार्यसे इच्छित उद्देश्यको पृथक् करना चाहिए। दूसरे हमें निश्चित इच्छा कार्योंको इच्छा स्वभावों या आदतों अर्थात् किसी परिस्थितिका सामना होने पर इच्छा करनेकी सामर्थ्योंसे अलग करना चाहिए। हम कह सकते हैं कि सामूहिक जीवनके फलस्वरूप इच्छाके निश्चित कार्य या इसको बनानेवाले व्यक्तियोंके स्वभावोंकी न्यूनाधिक स्थायी पद्धतियां या इच्छाकी आदतें, केवल व्यक्ति की नहीं वरन् सम्पूर्ण समाजकी रुचिके विचारसे प्रभावित और निर्धारित हो सकती हैं। जहां एक जमूहके प्रत्येक सदस्य या ठोस बहुमतके सम्बन्ध में यह बात है, हम ऐसे सदस्योंकी इच्छाको सामान्य कह सकते हैं, जिसका अर्थ यह नहीं कि वह सब एक सार्वजनिक उद्देश्य (जो दिखाया नहीं गया है) की ओर लक्ष्य करते हैं। और न यह कि वहां बहुत सी इच्छाओंसे पृथक् एक सामान्येच्छा है, वरन् केवल यह कि वहां विचारों और आदर्शोंका केवल एक पर्याप्त समुदाय है जो तत्सम्बन्धी व्यक्तियोंके विशेष इच्छा कार्यों को प्रभावित करता और उनको साधारण कार्य करनेके लिए उकसाता या संयुक्त निर्णय कराता है। हमें ऐसी स्थितियोंमें **सम्पूर्णकी इच्छा** कहनेका नहीं वरन् **सम्पूर्णके लाभ** के ज्ञानके द्वारा निश्चित केवल **सबकी इच्छा** का अधिकार है। इच्छाके कार्य व्यक्तिगत, स्थूल रहने चाहियें। ऐसे कार्योंके घटित होनेसे जनताकी इच्छा केवल एक संयुक्त इच्छा हो सकती है, यद्यपि उनके आन्तरिक तत्वोंकी समानताके कारण या क्योंकि वह सब, सम्पूर्णके लाभके विचारसे, या जिसे सम्पूर्णका लाभ समझा जाता है, प्रभावित है, वह कार्य एक दूसरेके समान हो सकते हैं।

ऐसी सामान्येच्छाका अस्तित्व है या नहीं यह यथार्थताका प्रश्न है। जिसको प्रत्येक समूहके सम्बन्धमें, विशेष खोजके द्वारा निर्धारित करना है। सामान्यतया अन्तमें सार्वजनिक कार्यसे निकलनेवाली मनोवैज्ञानिक शक्तियों में जिसे वास्तविक अर्थमें इच्छा कहा जा सकता है, ऐसी चीज बहुत कम होती है। वह बल्कि तत्वोंकी अग्राह्य ढेर (impalpable congeries) हैं जिनमें अन्ध आवेग, अस्पष्ट पूर्वदृष्टच उद्देश्य, अचेतन या अर्धचेतन अनु-

मान (inferences), आदतें और अन्ध विश्वास सम्मिलित हैं। महान् राजनीतिक निर्णय भी शायद ही कभी एक समूहके सब या अधिकांश सदस्यों के स्पष्ट सहकारी विवेचनके परिणाम होते हैं।* यदि डा० मैक्डूगल के समान हम सामूहिक इच्छाको सामूहिक कार्योंकी उन स्थितियोंमें ही सीमित करें जो कि समूहके प्रत्येक सदस्यकी इच्छाके निश्चयका परिणाम हैं, सम्पूर्ण समूहके प्रति सम्मानके स्थायी भावके द्वारा और उस सम्पूर्णकी भलाईके विचारके द्वारा, जो सामूहिक इच्छाका क्षेत्र बहुत सकुंचित है। जैसे यह विशेष उद्देश्योंके लिए कार्य करनेवाले कुछ कुटुम्बों या सदस्योंमें हो सकता है, परन्तु वर्तमान संसारके बड़े समूहोंमें ऐसी इच्छाका अस्तित्व यथार्थताकी अपेक्षा एक आशा या लालसा है। विशेषकर एक राज्यके अन्दर विभिन्न रूचियोंके साथ जटिल समूह होते हैं। और ऐसे समूहोंमें प्रायः सम्पूर्णके लाभके विरोधमें एक सामूहिक स्वार्थका विकास हो जाता है। अधिकांश लोगोंमें सम्पूर्णमें रूचिका ज्ञान, सामाजिक रचनाको बनाए रखने के लिए निष्क्रिय या सक्रिय रूपसे सहायक होनेकी अभिलाषा हो सकती है और निस्सन्देह होती है, परन्तु इसको मुश्किलसे इच्छा कह सकते हैं। वह कारण जो किसी कार्य योजना या विचारका ग्रहण और अन्यका त्याग करनेका निश्चय करते हैं, वह प्रायः उनके स्वाभाविक सत्य या मूल्य की चेतन स्वीकृतिके अतिरिक्त किसी भी चीजमें मिल सकते हैं, और जहां तक वहां ऐसा चेतन विचार है, यह कुछ मनुष्यों तक ही सीमित है, जो बहुत से मामलोंमें उदार और निःस्वार्थी हैं, परन्तु अन्यमें सम्पूर्ण जनताके लाभकी अपेक्षा कुछ जातियोंके लाभके लिए जानबूझकर कुछ विचारोंके विस्तारको उत्साहित करते हैं। यद्यपि कुछ मामलोंमें, अनजानमें ही, चुनाव प्रणाली प्रायः पक्षपात करती है। अतः जटिल समूहोंके मामलेमें, हम कह सकते हैं कि जहां तक आत्मचेतन इच्छा उपस्थित है, यह सामान्य नहीं है, और जहां तक समाजमें क्रियाशील आत्मिक शक्तियां सामान्य हैं, वह इच्छा नहीं हैं। डा० बार्थ के वर्णनमें भी समान विचार ठीक लगते हैं। जिस प्रकारकी

---

* देखिए Graham Wallas, "Human Nature in Politics," ch. 3.

आत्म-चेतनाके सम्बन्धमें वह कहते हैं उसका अस्तित्व एक राष्ट्रके जीवन के महान् संकटके समय ही रह सकता है, जब कि सारा समाज आपत्तिमें है। यह केवल उन स्थितियोंमें है जब कि राष्ट्र यह अनुभव करता है कि इसकी सम्पूर्ण स्थायी सम्पत्ति संकटमें है, तब यह एक सम्पूर्णकी भांति कार्य करेगा। तब भी इसमें सन्देह है कि हमें वास्तविक आत्मचेतन इच्छाका उदाहरण मिल जाए। क्योंकि ऐसे समयमें ही भीड़की नीची कोटिके आवेग और मूलप्रवृत्तियोंको कार्य करनेका अवसर मिल जाता है। कदाचित् यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत इच्छाके मामलेमें भी आत्मचेतन इच्छाके अस्तित्वका आधार आदतों, मूलप्रवृत्तियों और स्वभावोंके जमावमें है, परन्तु जब कि व्यक्तिके सम्बन्धमें मूलप्रवृत्तिका तत्व उसी व्यक्तित्वमें चेतन विचारोंसे आच्छादित और मिले हुए हैं, समाजके सम्बन्धमें चेतना या सम्पूर्ण समाज इसके सबसे अधिक बुद्धिमान् और देशभक्त सदस्योंके मस्तिष्क में उपस्थित हो सकता है। तथापि जहां तक उनका सम्बन्ध सम्पूर्णसे है मनुष्योंका बहुमत आदत या मूलप्रवृत्तिके स्तर पर ही रह सकता है। यहां फिर, जहां तक इच्छा है, यह सामान्य नहीं है। और जहां तक कार्यशील शक्तियां सामान्य हैं, वह इच्छा नहीं हैं।

अब हम सामान्येच्छाके चौथे मत पर विचार कर सकते हैं जो डा० बार्थ के मतके समान है परन्तु जिसे वुंट ने अधिक पूर्णतया कार्यान्वित किया है। यह मत प्रदर्शन और इच्छाके आपसी सम्बन्धोंके विश्लेषण पर आश्रित है। इच्छा खाली क्रिया नहीं हो सकती परन्तु आन्तरिक तत्व और प्रेरक (motive) की भांति प्रदर्शन उपलक्षित करती है दूसरी ओर प्रदर्शनमें एक प्रदर्शन करनेके अधिकारकी क्रिया उपलक्षित है। वुंट के अनुसार वास्तवमें, प्रदर्शनोंका मूल किसी न किसी इच्छा कार्यके कारण है। इससे पता चलता है कि कोई भी स्थूल इच्छा दूसरी इच्छाओंको पहलेसे मान लेती है। यह वुंटको इच्छा एकताओंकी श्रेणीकी भांति वास्तविकताके प्रत्ययकी ओर ले जाती है, जो पारस्परिक निश्चय या अन्योन्य सम्बन्धी कार्य, जैसे प्रदर्शन करनेके अधिकारकी क्रिया के द्वारा विभिन्न प्रकारके इच्छा जटिलों की श्रेणीमें विकसित होता है, जो एकता किसी प्रयोग सिद्ध ठोस इच्छामें है यह सम्बन्धी (relative) है। अपने अन्दर निम्न श्रेणीके इच्छा प्रकारों

का संयोग करती हुई व्यक्तिगत इच्छा वास्तवमें सामान्येच्छा हैं। क्योंकि खाली व्यक्तिगत क्रिया एक सीमा है,जिस तक अनुभवमें यथार्थमें कभी नहीं पहुंचा जाता। फिर, दूसरे छोर पर, हम सम्पूर्ण जातिकी सामान्येच्छाका अनुभव लगा सकते हैं, जो साधारण (common) प्रयोजनोंके लिए अपने सदस्यों और सदस्योंके समूहोंको मिलाती है और अन्तमें धार्मिक चेतना ईश्वरेच्छाको स्वयं सिद्ध प्रमाणित करती है, जो कि सर्वोच्च और अन्तिम एकता है, मनुष्य जातिकी साधारण धार्मिक सम्पत्तिका उद्गम और साथ ही उसकी सिद्धिकी अवस्थाएं। इस मतके अनुसार सामान्येच्छा (Gesamtiwille) बहुत जटिल है और अपने अन्दर जो वास्तविकता इसकी है और इसके अन्दर है, इसके विस्तृत और संकुचित रूपोंकी है, वह आनुमानिक नहीं वरन् यथार्थ है। व्यक्तिगत आत्माकी सच्ची वास्तविकता किसी अन्तर्गत पदार्थ या आधारमें नहीं मिलेगी, वरन् यथार्थ आध्यात्मिक जीवनमें, चेतन क्रियामें, अपने अन्दर एकत्रित करने और मनुष्य जातिकी साधारण आध्यात्मिक सम्पत्ति समयके इच्छा निर्देशों और प्रवृत्तियोंको प्रदर्शित करनेमें मिलेगी। वुंट सोचते हैं कि यदि एक बार हम पृथक् या स्वतंत्र अस्तित्व वाले सारांश या आधारकी भांति आत्मा या स्वयं सम्बन्धी विचार त्याग दें तो हम सामान्य इच्छाको वास्तविकताकी वह मात्रा देनेमें न्याय्य होंगे जो व्यक्तिगत इच्छाकी मात्रासे कम नहीं हैं। सभ्यताके आन्दोलन संस्कृतिका विकास, वास्तविक साधारण जीवनके लक्षण हैं, जो वाह्यरूप में एक दूसरेसे सम्बद्ध व्यक्तिगत लक्ष्यके केवल आकस्मिक परिणाम नहीं हो सकते। वुंट हमें सावधान करते हैं कि कुछ भी हो हमें व्यक्तिगत इच्छाओंकी हानि पर सामान्य या निर्दिष्ट इच्छाको बहुत महत्व नहीं देना चाहिए। यह उतना ही एकतर्फ़ा है जितना कि मनोवैज्ञानिक और आचार नीतिक परमाणुवाद (atomism) के विरुद्ध सिद्धान्तोंका संकुचित व्यक्तिवाद। ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्होंने ऐसे विचारों और भावनाओंको अधीन कर लिया है जो उनकी जातिको आन्दोलित कर देती है, और जो प्रभावशाली वर्णन करनेमें इतने मेधावी है कि वह सामान्येच्छाके लक्ष्योंके केवल कर्त्ता और उत्पादक ही नहीं बन गए हैं वरन् सामान्येच्छा पर अपना रूप अंकित और आरोपित करने योग्य हैं, और समयकी प्रवृत्ति पर

अपनी छाप लगा देते हैं। यह सामान्येच्छाकी वास्तविकतासे असंगत नहीं है, क्योंकि यह बहुत जटिल और वास्तवमें इच्छा-एकताओंकी एक श्रेणी है।

वुंट के वर्णनका यह गुण है कि यह सामान्येच्छाके प्रत्ययको व्यक्तिगत मस्तिष्कोंसे स्वतंत्र सत्ताके रूपमें सम्मिलित नहीं करता और यह सामान्येच्छा के अन्दर छोटी इकाइयोंके अस्तित्वके लिए स्थान स्वीकार करता है। साथ ही इसके सम्बन्धमें आपत्तिपूर्ण ग़लत अनुमान लगाए जा सकते हैं, और प्रधानतया इस प्रदर्शन शब्दमें घातक अस्पष्टताका दोष है। यह निश्चय ही इस बातकी सत्यताकी परीक्षा करनेका स्थान नहीं है कि प्रदर्शन स्वयं इच्छा क्रिया ह। कुछ भी हो, यह मान लिया जाएगा कि यदि वह इच्छा या क्रिया की प्रकृतिके हैं, जो क्रिया कही गई हैं वह **वह क्रिया** नहीं हैं जिसमें और जिसके द्वारा वह विचारे जाते हैं। यदि यह भेद मान लिया जाए, तब उच्च जटिलोंमें व्यक्तिगत इच्छाके समान वास्तविकता माननेके कारण नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वह कार्य जिनमें और जिनके द्वारा प्रदर्शन होते हैं, वह सदा विभिन्न व्यक्तियोंके व्यक्तिगत विशिष्ट कार्य होने चाहिएं, यद्यपि अनेक व्यक्ति मिलकर एक समूहकी भांति कार्य कर सकते और उनके साधारण प्रदर्शन हो सकते हैं अर्थात् उनको समान उद्देश्यका ज्ञान हो और उन्हीं आदर्शों पर लक्ष्य कर रहे हों।

जो अन्तर निर्दिष्ट किया गया है उसकी प्राय: वुंटने भी अवहेलना की है। जैसे वह प्रदर्शन-क्रिया और प्रदर्शनको समान समझते हैं, और यदि इस मतको उनके मतसे मिला दिया जाए कि स्वयं (self) की वास्तविकता क्रियामें होती है तो "मस्तिष्क-सामग्री" सिद्धान्त और सामूहिक-चेतना सिद्धान्तके लिए, जैसा कि हमें दुर्खीम में मिलता है, द्वार खुला है। दुर्खीम ने प्रदर्शनोंको "अर्ध स्वतंत्र" वास्तविकताएं माना है, जिनमें परस्पर आकर्षण और घृणा तथा नए संयोग बनानेकी शक्ति है। इस प्रकार दुर्खीमके अनुसार सामाजिक और सामूहिक प्रदर्शन बन जाते है जिनका सम्बन्ध सामाजिक मस्तिष्कसे है, और जिन्हें व्यक्तिगत मस्तिष्कके "बाहर" का कहते हैं। और यद्यपि दुर्खीम प्राय: यह स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक मस्तिष्कको व्यक्तिगत मस्तिष्कके ऊपर एक यथार्थ सत्ता—अपने ही प्रकारकी एक नई सृष्टिकी भांति कहते हैं। इस प्रकार वह सामूहिक चेतनाको आत्मिक जीवन

का सर्वोच्च रूप और **चेतनाओंकी चेतना** कहते हैं।* अब एक अर्थ है जिसमें प्रदर्शनोंके आन्तरिक तत्वोंका एक स्वतंत्र अस्तित्व है। जैसे पौराणिक कथाएं विचारोंको संयुक्त और पुनर्संयुक्त करनेसे बढ़ जाती हैं। परन्तु वास्तवमें इसका अर्थ यह है कि एक विचार जो कि एक व्यक्तिके द्वारा एक बार सोच लिया गया है और दूसरोंको बता दिया गया है वह अवश्य ही दूसरोंके विचारोंको बदलेगा। फिर भी सामूहिक प्रदर्शनोंको मस्तिष्क या आत्मा या चेतनाको बनानेवालेकी भांति कहनेका कोई प्रमाण नहीं है।

अब हम प्रो० बसांक्वे और अन्य आदर्शवादियोंके द्वारा बदले हुए रूपमें कार्यान्वित सामान्येच्छाके सिद्धान्त पर विचार कर सकते हैं। इस सिद्धान्त में निम्नलिखित तीन तत्व हैं, पहला, यह माना जाता है कि व्यक्तिकी इच्छा के विशेष कार्य और इच्छा-स्वभावोंकी पद्धति जिसे हम उसका चरित्र या उसकी "स्थायी इच्छा" कह सकते हैं, वास्तविक इच्छा या सत्य स्वयं की इच्छा उपलक्षित करते हैं। इससे व्यक्तिका यथार्थ चरित्र, स्थायी आधार-भूत प्रकृति या झुकावसे तात्पर्य नहीं है वरन् वास्तवमें एक मानी हुई विवेकी अच्छी आत्मा, एक आदर्श इच्छा, जिसका आधार है "मनुष्यके सर्वोत्तम जीवनके लिए पूर्णतया व्यक्त विचार।" दूसरे यह तर्क किया जाता है कि आदर्श इच्छा प्रकृतिमें सामाजिक है, यथार्थमें, यह सब व्यक्तियोंमें सदृश है और इस प्रकार एक इच्छा बनाती है। तीसरे, यह एक इच्छा जिसे "वास्तविक" या "सामान्य" कहते हैं राज्यमें समाविष्ट है।

इन प्रस्तावोंमें से पहले दो पर ध्यान देनेकी मेरी राय है।

(क) पहले तो वास्तविक इच्छाका, यथार्थ (actual) इच्छासे या जो जीवन क्रममें व्यक्तिकी इच्छा है, उससे विरोध किया गया है। जीवन ऐसे कार्योंसे भरा है जो अधूरे, अपूर्ण, "अमूर्त और खंड युक्त" हैं, और वह अपनेसे परे एक ऐसी पद्धतिको दिखाते हैं जो उनको सार्थक बनाएगी, सम्बद्ध इच्छाओं या स्वभावोंकी पद्धति, जो संगठित नियमोंके द्वारा एक साथ बंधी या रुकी हुई है। चाहे हम ऐसे नियमोंसे अभिज्ञ हों परन्तु यह माना जाता

---

* देखिए "Les Formes Elementaires de la vie Religieuse," p, 23.

है कि जहां व्यक्ति उनको नहीं मानता, वहां भी वह उसके आचरणमें कम उपलक्षित नहीं हैं। यहां तक यह माना जा सकता है, परन्तु ऐसे तर्कोंसे यह परिणाम नहीं होगा कि वास्तविक इच्छा विवेकमय या अच्छी है। निश्चय ही इससे इंकार नहीं किया जाएगा कि अधिकांश व्यक्तियोंकी प्रतिष्ठित या स्थायी इच्छाएं उन अनुरूप एकताओंसे कहीं दूर हैं जो विवेकमय नियमोंसे शासित होती हैं। तो यह मालूम होगा कि वास्तविक इच्छासे केवल उस प्रतिष्ठित या स्थायी इच्छाका तात्पर्य नहीं है जो यथार्थमें व्यक्तिकी है, परन्तु एक आदर्श इच्छा दूसरे शब्दोंमें, इच्छा जैसी कि वह होनी चाहिए, यह तर्क किया जाता है कि यथार्थ इच्छामें ऐसी इच्छा उपलक्षित है। क्योंकि कार्यका उद्देश्य कभी भी सन्तोषप्रद नहीं होता और न कभी जो कुछ हमारी सम्पूर्ण प्रकृति चाहती है उसे वह पूर्ण करता है। किसी दिए हुए क्षणमें, वास्तवमें हम नहीं जानते कि हम क्या चाहते हैं, हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को क्या सन्तुष्ट करेगा। हम वास्तवमें क्या चाहते हैं उसे ढूंढनेके लिए, हमें उस क्षणकी अपनी अभिलाषाओंकी दूसरे क्षणकी अभिलाषाओं और अन्य व्यक्तियोंकी अभिलाषाओंसे तुलना करके उन्हें ठीक करना होगा ; संक्षेप में, हमें एक अच्छे और अनुरूप जीवनकी अवस्थाओंकी परीक्षा और आलोचना करनेकी प्रणाली प्रचलित करनी होगी, और जब यह प्रणाली पूर्ण हो जाएगी तब हमारी अपनी इच्छा हमारे पास ऐसे रूपमें वापस आएगी कि हम उसे पहचाननेमें लगभग असफल होंगे। यह माना जाता है कि पुनर्निर्मित इच्छा हमारी वास्तविक इच्छा है। अतः यह विवेकमय या अच्छी इच्छा है, इच्छा, जैसी कि यह होनी चाहिए, जैसी कि पूर्णताके विचार से निश्चित की गई है। और यद्यपि जिस पर हम लक्ष्य करते हैं उससे बहुत बढ़कर है, फिर भी इस लक्ष्यमें उपलक्षित है। क्योंकि यह अकेली ही प्रायोगिक जीवनको सार्थक बना सकती है।

इस तर्कका मूल्य मुझे दो बातों पर आश्रित मालूम होता है : (१) इस प्रश्न पर कि किस अर्थमें एक मनुष्य उसके इच्छा कार्योंमें "जो उपलक्षित है," उसकी इच्छा करता हुआ कहा जा सकता है. और (२) इस सम्बन्ध में शब्द "वास्तव" के अर्थ पर। पहले तो, यदि इच्छा शब्दका अर्थ यथार्थ में चेतन चुनाव है, तो यह अस्वीकार किया जा सकता है कि एक व्यक्ति उस

उद्देश्यके अतिरिक्त जिससे वह पूर्ण अभिज्ञ है किसी भी चीजकी इच्छा कर सकता है, इच्छा शब्दका यह विरोध असुविधाजनक हो सकता है। आधुनिक मनोविज्ञानने हमें इस बातसे परिचित करा दिया है कि प्राय: हमारे चेतन प्रेरक (motives) उन अधिक गहन आवश्यकताओंके लिए केवल एक "छल" है, जिनका हमें कदाचित् ध्यान न हो, और कुछ स्थितियोंमें यह कहना शब्दोंमें दोष निकालना होगा कि यह गहन आवश्यकताएं हमारी वास्तविक इच्छाका प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इसे मानने पर यह अनुमान लगानेका कोई कारण नहीं है कि किसी भी विशेष स्थितिमें ऐसे गहन प्रेरक की खोज और उनकी पूरी गणना कोई विवेकमय या अच्छी इच्छा प्रकाशित करेगी। बल्कि इसके विरुद्ध यह गहन और दूर तक पहुंचने वाले संघर्षको प्रकाशमें ला सकता है। फिर जो उपलक्षित है उसका अर्थ आचरण योजनाओं और लक्ष्योंकी वह सब प्रगति हो सकती हैं जो एक मनुष्य मान सकता है कि उसके इच्छाके किसी भी विशेष कार्यमें सम्मिलित थी, यदि वह इस कार्य पर आलोचनात्मक रूपसे विचार करे। यहां किसी विशेष स्थितिमें यह माननेका कोई कारण नहीं है कि ऐसी योजना विवेकमय या अच्छी होनी चाहिए। यद्यपि निस्सन्देह तत्सम्बन्धी व्यक्तिको तो ऐसी ही मालूम देगी। तब यह मालूम होगा कि उपरोक्त तर्कके लिए "जो उपलक्षित है" का अर्थ कार्यकी वह सब प्रगति है जो कि एक पूर्णतया विवेकी मनुष्य देखेगा कि एक व्यक्तिके किसी भी कार्य या कार्य पद्धतिमें सम्मिलित हैं। किस अर्थमें यह इच्छा पूर्णतया विवेकी मनुष्यकी नहीं वरन् साधारण मर्त्यकी इच्छा कही जा सकती है? मैं सोचता हूं कि जो कुछ इस मतके माननेवाले विचारकोंके मनमें है, वह यह है कि नैतिक और राजनीतिक कर्त्तव्यका अर्थ तब तक नहीं समझाया जा सकता जब तक हम प्रत्येक व्यक्तिमें सर्वोत्तम और अन्तिम लाभका विचार न मान लें चाहे वह कितना ही अस्पष्ट हो या बुरी तरह उसकी परिभाषा की गई हो। यह कभी-कभी इस तरह कह दिया जाता है कि जिसमें यह उपलक्षित होना मालूम होगा कि जब मैं कहता हूं मुझे करना चाहिए मेरा मतलब है मेरी इच्छा इसे करनेकी है। इस प्रकार प्रो० बसांक्वे कहते हैं कि "अपने आप इच्छा करने वाली इच्छाको नियोजक अधिकार हमारी अपनी आन्तरिक प्रकृति है और हम इसे हटाकर फेंक नहीं

सकते। यह राजनीतिक कर्त्तव्योंकी जड़ है।", इसके विरुद्ध यह कहा जाना चाहिए कि यद्यपि यह तर्क किया जा सकता है कि जो आचारनीति (ethically) दृष्टिसे कर्त्तव्य है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी इच्छा-योग्य होना चाहिए, आचारनीतिक कर्त्तव्य उससे अधिक इच्छित होनेमें नहीं है जितना एक ज्ञात पदार्थ ज्ञात होनेमें है। यह बात कि मैं इच्छा करता हूं या मेरी वास्तविक आत्मा या कोई और चीज़ इच्छा करती है इस बातके लिए पर्याप्त कारण नहीं है कि यह क्यों किया जाना चाहिए, जब तक कि यह दिखानेका कारण है कि यह अच्छा है और किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नैतिक क्रम कुछ उद्देश्यपूर्ण है, और कर्त्तव्य इस बातमें है कि ऐसे नैतिक क्रमका हमारे ऊपर अधिकार है, परन्तु न तो नैतिक क्रम और न कर्त्तव्य, मानुषिक या दैविक, इच्छा कार्योंमें है और न इसके सदृश है।

उपरोक्त मिथ्याबोधके अतिरिक्त हम मान सकते हैं कि नैतिक कर्त्तव्य और नैतिक आचरणका ज्ञान एक सम्भव पूर्णता (perfection) का कुछ ज्ञान व्यक्तिमें या व्यक्तियोंके समाजमें अपनेको स्वीकार करानेके अन्तिम अच्छे संघर्षका अस्पष्ट ज्ञान उपलक्षित करता है। क्या उसे वास्तविक इच्छा कहना उचित है जिसके विरोधमें यथार्थ इच्छाको धोखेवाली और खंडयुक्त माना जाता है। निश्चय ही यह कहना एक बात है कि सम्भव लाभ का प्रत्यय हमारी इच्छामें, उपलक्षित है, और यह कहना दूसरी बात है कि ऐसे लाभकी वास्तवमें इच्छा की गई। अन्तिम लाभका यह विचार केवल एक अस्पष्ट आकार मात्र या कल्पना है जो प्रकृतिकी एकरूपताके नियम की कल्पनासे मिलती है, जो वैज्ञानिक खोजोंमें उपलक्षित माना जाता है, और इस प्रकार आकार मात्रसे आचार विस्तारके सम्बन्धमें कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता। वास्तवमें इसमें जितनी स्थिरता है, वास्तविक कहकर उससे अधिक आरोपित कर दी जाती है और जब कि यह विधि (law) में समाविष्ट सामान्येच्छाके सदृश कर दी जाती है, तब इसके घातक परिणाम होते हैं, क्योंकि तब इस तर्कके द्वारा नींव तैयार की जाती है कि सामान्येच्छा के द्वारा जो कुछ व्यक्ति पर आरोपित किया जाता है वह वास्तव में स्वयं अपने ऊपर आरोपित करता है और इस प्रकार उसके साथ कितना भी विघ्न सैद्धान्तिक रूपसे उचित ठहराया जा सकता है।

दूसरे, इस सम्बन्धमें "वास्तव" शब्दका प्रयोग "वास्तविकताकी मात्रा" के आदर्शवादी सिद्धान्तको उपलक्षित करता है, जिसकी यही परीक्षा नहीं हो सकती। मुझे कहना चाहिए कि एक चीज़ या तो वास्तविक होती है या अवास्तविक, अतः यथार्थ इच्छा भी उतनी ही वास्तविक है जितनी "वास्तविक" इच्छा, यदि वास्तविक इच्छासे हमारा तात्पर्य स्थायी या प्रतिष्ठित इच्छा है। यद्यपि यथार्थ इच्छा तुलनात्मक दृष्टिसे कुछ अस्थिर है। दूसरी ओर, यदि, जैसी कि स्थिति मालूम होती है, वास्तविक इच्छासे तात्पर्य है प्रयोजनोंकी एक निश्चित स्पष्ट जीवित पद्धतिकी पूर्णतया विवेकी इच्छा, तब यह इच्छा बिल्कुल भी वास्तविक नहीं वरन् आदर्श है।

(ख) **सामान्येच्छा.** तब विवेकमय अच्छी इच्छा, जैसा कि इसे होना चाहिए, वास्तविक इच्छा है। यह तर्क किया जाता है कि ऐसी इच्छा सब व्यक्तियोंमें गुण और आन्तरिक तत्वमें समान है। यह केवल संयुक्त इच्छा या सबकी इच्छा नहीं है, वरन् बसांक्वे के शब्दार्थमें सार्वलौकिक या सब व्यक्तिगत इच्छाओंमें रहनेवाले सम्बन्धोंके धागेकी प्रकृति की है, अर्थात् एक योजना जो अपनेको विशेष इच्छाओंमें सिद्ध करती है, परन्तु किसी यथार्थ इच्छासे अधिक स्थायी और बढ़कर है। दूसरे शब्दोंमें, सब विवेकमय इच्छाओंके आन्तरिक तत्व (content) है "स्थूल सार्वलौकिक," उन उद्देश्यों और प्रयोजनोंकी जीवित पद्धति जो मनुष्य प्रकृतिकी सब मांगोंको पूर्णतया सन्तुष्ट कर देगी। आन्तरिक तत्वके ऐसे सादृश्यसे स्वतंत्र एकता और अस्तित्वकी निरन्तरताके सादृश्यका अनुमान लगाया जाता है और तब सामान्येच्छाको एक व्यक्ति, एक इच्छा, एक अनुभव, व्यक्ति जिसके अपूर्ण रूप हैं, कहा जाता है। इस प्रकार समाज एक अकेला अनुभव और आत्मिक आन्तरिक तत्वोंकी निरन्तर आत्म सदृश सत्ता माना जाने लगता है। विशेष व्यक्ति जिनमें और जिनके द्वारा यह "सामाजिक सार्वलौकिक" अपनेको सिद्ध करता है वह इस पद्धतिके अन्दर, न्यूनाधिक स्पष्ट, आन्तरिक तत्वके सम्बन्ध या संगठन हैं। उन सबके अन्दर सम्पूर्णकी क्रियाशील आत्मा या आकार होता है और फलस्वरूप वह व्यक्तित्व और एकता, अर्थात् पूर्णतया स्पष्ट अनुभवके लिए प्रत्यन करते हैं। जहां तक उन्हें सफलता मिलती जाती है, वह अधिकाधिक स्पष्ट होते जाते हैं, और अन्तमें वह अकेले स्पष्ट

अनुभवके, जो कि सम्पूर्ण है, सदृश्य हो जाते या उसमें निमग्न हो जाते हैं। अतः पृथक्त्व व्यक्तिकी अन्तिम प्रकृति नहीं है, क्योंकि तत्व और विषय सामग्रीमें व्यक्तियोंके मस्तिष्क और इच्छाएं "संचार योग्य विस्तृत" हैं।

यह तर्क इस अनुमान पर आश्रित है कि विषय सामग्रीके सादृश्यमें अस्तित्वके सादृश्य सम्मिलित हैं। मर्यादायुक्त व्यक्तियोंकी सब विवेकमय इच्छाएं कहां तक सदृश होनी चाहिएं (यद्यपि मुझे यह नहीं मालूम होता कि यह सिद्ध किया जा चुका है), इस प्रश्नको छोड़कर हम यह ध्यान दे सकते हैं कि स्वयं बसांक्वे ने आत्मिक सत्ताओंकी भांति विचार और विषय सामग्रीकी भांति विचारके बीचके भेदकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है; और प्रथम दृष्टिमें तो ऐसा मालूम हो सकता है कि जहां एक बार यह भेद किया तो समाजमें मस्तिष्कोंकी एकताका तर्क, जो कि उनके अनुभवोंके ऊपर आश्रित है खंडित हो जाता है। क्योंकि यद्यपि विषय सामग्रीकी भांति विचार साधारण हो सकते हैं परन्तु आत्मिक सत्ताओंकी भांति विचार कभी साधारण नहीं हो सकते। जब दो लोग एक ही पदार्थको जानते हों, तो आत्मिक घटनाओंकी भांति माने जानेवाले सचेत कार्य वही नहीं हो सकते, यद्यपि वह एक दूसरेसे मिलते हुए माने जा सकते हैं। कभी-कभी स्वयं प्रो० बसांक्वे भी इसे स्वीकार करते हुए मालूम होते हैं। जैसे वह कहते हैं, "जिसे हमने आत्माओंका या स्वयंका नियमानुकूल पृथक्त्व कहा है, कोई भी उसे रद्द करनेका प्रयत्न नहीं करेगा। यह उस असम्भवमें रहता है कि अनुभवका एक निश्चित केन्द्र दूसरेके तात्कालिक अनुभवको अपने तात्कालिक अनुभवकी भांति रक्खे।"* फिर भी यह मालूम देगा कि यह नियमानुकूल पृथक्त्व मौलिक समभावके अनुरूप है। इसे कैसे समझाना चाहिए? मुझे ऐसा लगता है कि इसकी जड़ इस बातमें है कि प्रो० बसांक्वे जैसा कि वह कहते हैं वास्तवमें आत्मिक सत्ता या समीपता, और विषय सामग्रीके बीचके पृथक्त्व के सम्बन्धमें गम्भीर नहीं हैं, और आत्मिक सत्ताकी वास्तविकताको अस्वीकार करनेकी ओर वह लगभग प्रवृत्त हैं। समीपता या आत्मिक सत्ता

* "The Value of Destiny of the Individual", p. 47.

को मानसिक कार्यों या घटनाओंका, जिनको हम स्मरण रखते हैं, अंग नहीं माना जाता। यह "अनुभवकी तह (stratum) नहीं वरन् भाग है।"* अनुमानसे इसका अर्थ यह है कि यह एक भाग है जिसमें आन्तरिक तत्व प्रवेश कर सकते हैं और जिसमें से निकल कर जा भी सकते हैं। जैसा कि उन्होंने वर्णन किया है समझके कार्य वह रूप हैं जो आन्तरिक तत्व धारण कर सकते हैं। "किसी भी समझ या ज्ञानका विषय सामग्री हमारे मस्तिष्क की एक अवस्था बन सकता है।" हमारी सम्पूर्ण उद्देश्यपूर्ण समझ एक ऐसी चीज़ है जो एक मानसिक अवस्थाका आकार लेने योग्य है अर्थात् तात्कालिक बननेके योग्य है।"† आन्तरिक तत्वको निरन्तरता (continium) माना जाता है, जिसमें समझके कार्योंके पहले एक स्वतंत्र वास्तविकता है, जिसके समझके कार्य केवल एक सीमा एक विभाजन हैं, कदाचित् इस कारण कि वह विभिन्न संस्थाओं पर आश्रित हैं। इस प्रकार हमें बताया जाता है कि विभिन्न व्यक्ति "विषय सामग्रीके संगठन हैं जिसको, सामान्यता गुणका एक अन्तर, पूर्णतया मिल जानेसे रोकता है, यद्यपि वह अन्तर विभिन्न संस्थाओंके या संस्थाओं पर आश्रित नहीं हैं।" आन्तरिक तत्वके सम्बन्ध में यह माना जाता है कि यह सदृश्य और संगम करनेवाले हैं।

उपरोक्तसे स्पष्ट मालूम होता है कि मस्तिष्कोंके संगम या एक बड़े मस्तिष्कमें उनके समावेशके पक्षमें सम्पूर्ण तर्क आन्तरिक तत्वोंकी वास्तविकता मान लेने और अनुभवोंके कार्योंकी वास्तविकताके निषेधके ऊपर आश्रित है। इस सम्पूर्ण स्थितिके विरुद्ध यह विचार करना चाहिए कि:

१. आन्तरिक तत्व कभी मस्तिष्ककी अवस्थाएं नहीं बनते। यह सार्वलौकिकोंकी प्रकृतिके हैं और इनमें उस प्रकारकी सत्ता है जो सत्य सम्बन्धी है। सत्य सांसारिक प्रणालियां या घटनाएं हैं।

२. यह नहीं माना जा सकता कि समझ या ज्ञानके कार्योंके पूर्व आन्तरिक तत्वोंका स्वतंत्र अस्तित्व है। वह बल्कि एक पदार्थ पर चेतनाके

---

* "Logic," vol. 2, p. 301.
† " " , p. 300.

निर्देश परिणाम स्वरूप होनेवाली चेतनाके कार्योंकी प्रकृति या चरित्रके हैं। प्रकृति या निस्कर्षोंकी भांति अस्तित्व शब्द उन पर ठीकसे लागू नहीं किया जा सकता।

३. इससे यह पता चलता है कि चेतनाके कार्य, मान लो दो आदमियोंके या उसी व्यक्तिके विभिन्न समयोंके, उसी उद्देश्य पर निर्दिष्ट कार्य एक दूसरेसे मिलते हुए होंगे, और यदि हम ऐसे सब कार्योंका संग्रह करना चाहें और उनको अनुभव शब्दके अन्दर सम्मिलित करें, तो हम कह सकते हैं कि अनुभव इस अर्थमें सार्वलौकिक है कि यह उद्देश्यों (अर्थात् कार्यों) की एक जाति है, जो एक दूसरेसे मिलते हुए हैं या चरित्रमें समान हैं। परन्तु दो कार्य जिनके विषय सामग्री बिल्कुल एक से हैं, फिर भी दो कार्य और इसी प्रकारके दो मस्तिष्क रहेंगे।

४. प्रश्न आगे भी बढ़ाया जा सकता है। क्या विषय सामग्रीकी एकता या समानता, विचार या इच्छाके सम्बन्धमें, इच्छा या विचारके पृथक् कार्योंके अस्तित्वमें इस प्रकार नहीं घुसतीं कि आन्तरिक तत्वकी एकताको अस्तित्वकी एकतामें बदल दें? मुझे मालूम होता है कि इस प्रकार तर्क करने वाले विचारक इसलिए करते हैं कि वास्तवसें आन्तरिक तत्वों या निष्कर्षों को आत्मसत्ताएं मानते हैं और विशेषकर यदि आदर्शों और प्रयोजनोंकी ओरसे समस्या पर पहुंचा जाए तो, क्योंकि उनका विश्वास है कि मनुष्योंके आदर्श और प्रयोजन एक अर्थमें पहलेसे ही सार्वलौकिक मस्तिष्कमें सिद्ध हैं। इस प्रकार प्रो० बसांक्वे ग्रीन के कथनको समर्थन सहित उद्धृत करते हैं, "जब जिसका विकास किया जा रहा है वह विषय (subject) स्वयं आत्म चेतन है, तो इसके हो जानेका लक्ष्य अवश्य होना चाहिए, आत्म चेतन विषयके लिए नहीं वरन् उसमें या उसकी भांति। सदा ऐसा विषय (subject) अवश्य होगा, जो समयानुकूल विकसित होने पर, उस प्रकार का आत्म चेतन विषय (व्यक्ति) है वह, जो कुछ बन सकता था बन गया है और जिसमें मानुषिक प्रवृत्तिका आदर्श या बननेके लिए इसमें जो कुछ भी है, पूर्णतया सिद्ध है।" इसी प्रकार प्रो० म्योरहेड (Muirhead) विवाद करते हैं कि यद्यपि कार्य व्यक्तिके होते हैं तथापि "उनके प्रयोजन जहां तक वह अनुरूप हैं, प्रयोजनोंकी औगिक (organic) पद्धतिमें सम्मिलित हैं,

जिनको हमने मान लिया है कि वह वहां तक ही वास्तविक हो सकते हैं जहां तक वह सार्वलौकिक मस्तिष्कके प्रयोजन हैं ;" और वह इसे स्पष्ट करते हैं कि महान् मस्तिष्कमें निश्चित मस्तिष्कके अर्थ और प्रयोजन अवश्य **किसी अर्थमें पूर्ण होने चाहिएं।*** यह सब आदर्शोंकी वास्तविकता मान लेने और सत्य तथा अस्तित्वके बीचके भेदका निषेध सम्मिलित करना हुआ मुझे मालूम होता है। आदर्श तो विचार और इच्छाके आन्तरिक तत्व हैं, और मैं यह देखनेमें असफल हूं कि जब उनको रखने और विचारने वाला मस्तिष्क ईश्वरका मस्तिष्क है तब उनसे सम्बद्ध विद्यमान न रहनेकी प्रकृति (non-existential character) बदल जाती है। मैं यह भी नहीं देख पाता कि इस बात पर आग्रह करनेसे कि मस्तिष्कोंमें अस्तित्वकी एकता है धार्मिक या सामाजिक जीवनमें क्या लाभ होता है, क्या वह काफ़ी नहीं है कि उनमें साधारण प्रयोजनोंका होना और उन्हीं आदर्शोंके लिए प्रयत्न करना दिखाया जा सके ? प्रो० बसांक्वे तर्क करते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिकी प्रतिष्ठित इच्छा (standing will) उसके सम्बद्ध इच्छा कार्योंकी पद्धति, दूसरे व्यक्तियोंकी समान पद्धतियोंमें और उनको उपलक्षित करती है ; अत: वह निर्णय करते हैं कि एक अकेली संयुक्त (inclusive) पद्धति होती है, विशेष इच्छाएं जिसकी सीमा या भाग हैं।† इस तर्कको अलग छोड़कर कि इच्छाओं की इस प्रकारकी पूर्ण पद्धति यथार्थताकी अपेक्षा आदर्श है मुझे यह स्पष्ट मालूम होता है कि ऐसी पद्धति जिस प्रकारकी एकता दिखाएगी वह इच्छाओंके संगमकी समस्या पर किसी प्रकारका प्रकाश नहीं डालती। यह मानकर कि कोई भी इच्छा जिसका उद्देश्य ऐसी पूर्ण पद्धतिका एक भाग है शेष पद्धतिकी "लपेटके द्वारा" (by implication) इच्छा करती है, इससे यह परिणाम होगा कि सब विशेष इच्छाएं उसी उद्देश्यकी इच्छा करेंगी, परन्तु यह परिणाम बिल्कुल नहीं होगा कि कोई विशेष इच्छा और कोई दूसरी इच्छा या समाजकी इच्छा एक ही हों। मेरे प्रयोजनोंकी सिद्धि दूसरे मनुष्योंके अस्तित्व पर और उनके प्रयोजनोंकी सिद्धि मेरे अस्तित्व पर

* "Problems of Science and Philosophy," p. 133
† "Mind," January, 1920, p. 80.

आश्रित है। इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि'मैं' वह और वह मैं हूं; तथा मानसिक कार्योंकी निरन्तरता जो कि आत्म भागोंको बनाती है, इसकी अस्तित्व सम्बन्धी एकताको नहीं खोती, क्योंकि उनके आन्तरिक तत्व दूसरे व्यक्तियोंके मानसिक कार्योंके आन्तरिक तत्वोंके समान प्रकृतिके हैं।

एक अन्य प्रकारसे भी प्रो० बसांक्वे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि सामाजिक और व्यक्तिगत मस्तिष्क विभिन्न दृष्टिकोणसे देखने पर वास्तव में वही ताना बाना या रचना हैं। यह तर्क किया जाता है कि मस्तिष्क पूर्वानुवर्त्ती ज्ञान राशियों (apperceptive masses) या विचारोंकी पद्धति से बना है, प्रत्येकमें अपना प्रधान या शासन करनेवाला विचार होता है। सामाजिक संस्थाओं या सामाजिक समूहोंमें भी विचारोंकी पद्धति होती है, जो कि प्रयोजनके द्वारा संयुक्त हैं। वह प्रयोजन उन्हें इस प्रकार सम्बद्ध करता है जिससे सम्पूर्णके कार्यकी पूर्ति सम्भव हो सके। एक संस्था बहुत से मस्तिष्कोंका मिलन स्थान है, दूसरे शब्दोंमें "पूर्वानुवर्त्तीज्ञानकी पद्धतियों की एक पद्धति है जिसके द्वारा उनमें भाग लेनेवाले मस्तिष्क सम्पर्कमें रक्खे जाते हैं।" दूसरे सामाजिक समूह, प्रत्येक अपने प्रधान प्रयोजन सहित, एक दूसरेकी सहायता या समर्थन कर सकता है, या वह विरोधी और भिन्न हो सकते हैं, परन्तु आधारमें, वह एक अकेले व्याप्त जीवनके अंग होंगे, और पूर्णतया असंगत नहीं हो सकते। इस दृष्टिकोणसे, समाज सतत या आत्म-सदृश सत्ताकी प्रकृतिका दिखाई पड़ता है, जिसमें वह क्रियाएं हैं जो अपने अन्तरोंके द्वारा एक दूसरेकी सहायक हैं और एक पूर्णतया जोड़ा हुआ सम्पूर्ण या "संसार" बनाती हैं। अब, निश्चय ही, यह सत्य है कि समाज और व्यक्ति समान तत्वोंके बने हुए हैं क्योंकि समाज व्यक्तियोंसे बनता है। परन्तु पहले, जब तक हम या तो चेतनाकी अवस्थाओंमें विश्वास करें या कार्य और आन्तरिक तत्वका भेद अस्वीकार करें, तर्क यह नहीं सिद्ध करता कि सामाजिक मस्तिष्क अस्तित्वकी एकताको उसी अर्थमें बनाता है जिसमें चेतनाकी अवस्थाओंकी श्रेणी, जिसे हम मस्तिष्क कहते हैं, अस्तित्वकी एकता बनाती है; दूसरे हमें इस समस्याका सामना करना है कि सामाजिक कार्य, या सामाजिक मस्तिष्कके छुटकारे या सामाजिक संस्थाओंमें समाविष्ट प्रयोजन, व्यक्तिके चरित्रको श्रान्त (exhaust) करते हैं। प्रो० बसांक्वे

व्यक्तियों और प्रयोजनोंसे नहीं वरन् कार्यों और प्रयोजनोंकी एक प्रकारकी चेतनायुक्त योजनाकी भांति सार्वलौकिक "मनुष्य प्रकृति" से प्रारम्भ करते हुए मालूम होते हैं, और सैद्धान्तिक रूपमें व्यक्तिगत अस्तित्व या "रूपकी अद्वितीयता" को और आन्तरिक तत्व या विषयकी अद्वितीयता सहित होना चाहिए—एक कार्य जो किसी अन्य व्यक्तिके द्वारा कभी नहीं किया जाएगा। ऐसा व्यक्ति "एक सामाजिक सार्वलौकिक तक का सच्चा विशिष्ट (particular)" होगा। यदि ऐसा होता तब भी प्रोफ़ेसर बसांक्वे के विचारमें फिर भी स्वयं पर पृथक्त्वका आरोपण करनेका कोई कारण नहीं होता, क्योंकि जब व्यक्तिगत मस्तिष्कोंको अकेले सम्पूर्णके चेतनायुक्त भागोंकी भांति माना जाता, और यह चेतनायुक्त भाग सम्पूर्ण होंगे, होंगे अर्थात् वह प्रकार जिनमें सार्वलौकिक अपनेको प्रकाशित करता या विशेष सुधार मान लेता है। यह पिछला तर्क स्पष्टतया प्रो० बसांक्वे के सिद्धान्त "स्थूल (concrete) सार्वलौकिक" पर आश्रित है, और जो भी उस सिद्धान्तको नहीं मानते उन सबके लिए यह माननेकी अनुमति है कि अंग कभी एक दूसरेके पूर्णतया समान नहीं होते और न उनको सम्मिलित करने वाली पद्धतिके। यथार्थमें "एक मस्तिष्कका कार्य"का सिद्धान्त समाजमें कभी कार्यान्वित नहीं होता। व्यक्तियोंकी सामर्थ्य "स्वेच्छाचारी और संदिग्ध हैं।" एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्कोंके अनुभवोंकी पुनरावृति कर सकता, उनको अच्छादित कर सकता और समझ सकता है। एक मस्तिष्कके आन्तरिक तत्व उससे भिन्न हो सकते हैं "जो एक चींटीके जैसे कामके लिए काफ़ी है उससे लेकर उस स्वयं तक जिसमें एक समस्त समाजका ढांचा और बहुत कुछ विस्तार है।" परन्तु क्या पुनरावृत्ति और आच्छादनकी यथार्थता यह सिद्ध नहीं करती कि सार्वलौकिक "मनुष्य प्रकृति" को व्यक्तिगत मानना ग़लत प्रत्यय है, क्या यह सिद्ध नहीं करती कि विवरण दिखावटसे अधिक है, और वह सम्पूर्णमें निमग्न होनेसे इन्कार करता है? क्या यहां पर सार्वलौकिक "मनुष्य प्रकृति" या "मनुष्य क्षमता या सम्भाव्यता," जिसमें विशेष सत्ताएं बिल्कुल नहीं हैं, और समाज जिसमें विभिन्न प्रकारसे सम्बद्ध विशिष्ट अवश्य हैं और जिसमें यद्यपि एक अपनी ही प्रकारकी एकता है तथापि एक प्रत्यय सम्बन्धी एकताका होना सम्भव नहीं है। "सामाजिक

सार्वलौकिकके सच्चे विशिष्ट" का जो अर्थ है यह सामाजिक सार्वलौकिक वाक्यखंड पर आश्रित है। यदि समाजकी ओर संकेत है तो कोई भी यथार्थ व्यक्ति इसका सदस्य है। यदि संकेत प्रयोजनोंकी चेतनायुक्त योजना या मनुष्य क्रियाकी ओर है तो व्यक्ति बिल्कुल भी सच्चा विशिष्ट नहीं है, और फिर पहले अर्थमें "सच्चा विशिष्ट" जिन सामाजिक सम्बन्धोंमें प्रवेश करता है उनमें कभी श्रान्त नहीं होता। उसमें एक प्रकारका आत्म-निश्चय, एक स्वतंत्र, एकता, और निरन्तरता है, जो इन सम्बन्धोंमें कभी निमग्न नहीं होती। वह सम्बन्धोंकी एक अधिक विभिन्नताका केन्द्र है, जो सामाजिक संस्थाओंमें केवल अपूर्णरूपसे प्रकाशित है, अतः यह कहनेके बदले कि व्यक्ति "एक अनोखे या विशेष दृष्टिकोणसे समाजका प्रतिबिम्ब या आकृति है, हमें यह कहना चाहिए कि समाज एक अनोखे या विशेष दृष्टिकोणसे व्यक्तियों का प्रतिबिम्ब या आकृति हैं। पूर्वानुवर्त्ती ज्ञानकी पद्धतियां जो समाज और व्यक्तियोंकी साधारण सामग्री बनाती हैं उनमें प्रत्येक व्यक्तिके सम्बन्धमें भावनाओं संवेगों और शारीरिक संवेदनाओंके तत्व होते हैं जो बिल्कुल उनके है और जिनका संचार नहीं हो सकता। मेरे विचारमें, यह स्पष्ट होना चाहिए कि सामान्येच्छाके पक्षमें तर्कका वास्तविक गुरुत्व यथार्थ मानसिक अवस्थाके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर या यथार्थ व्यक्तियोंकी सामान्यताके द्वारा सोचे गए मानुषिक प्रयोजनों पर भी आश्रित नहीं है वरन् उस आनुमानिक वास्तविक इच्छा पर आश्रित है, जिनमें सब मानुषिक प्रयोजन उपलक्षित या अनुरूप हैं। अब, प्रो० बसांक्वे स्वयं तर्क करते हैं कि सम्पूर्ण मनुष्य जातिकी सामान्येच्छा, मनुष्य जाति एक आचार नीति (ethical) आदर्शकी भांति, "तथ्यकी अपेक्षा प्रकार या समस्या है।" जब तक हम अपनेको तथ्यों तक सीमित रखते हैं, क्या किसी भी विद्यमान अवस्थाकी सामान्येच्छाके विषयमें वही नहीं कहा जा सकता? दूसरी ओर यदि, वास्तविक इच्छा आदर्श इच्छा है; यदि, विशेषकर हमारे मस्तिष्कमें, सार्वलौकिक मस्तिष्कमें, किसी भी अर्थमें पहलेसे सन्तुष्ट प्रयोजनोंकी एक विवेकमय पद्धति है, तब क्या मनुष्य जातिकी सामान्येच्छासे अधिक वास्तविकता नहीं होती, जिसमें सामान्येच्छाओंकी, अनेक अवस्थाओं, जो कि मनुष्य जातिके सम्बन्धमें केवल विशिष्ट मानी जा सकती हैं उनकी

अपेक्षा विद्यमान सामान्येच्छाएं अनुरूप और एकरूप हो जाएंगी ?*

इस विवादका संक्षेप करते हुए हम कह सकते हैं :

१. प्रत्येक व्यक्तिमें, अतः व्यक्तियोंके समाजमें कुछ चीज़ हो सकती है जो अन्तिम लाभके प्रत्यय या पूर्णताके विचारके प्रति प्रतिक्रिया करती है। कुछ भी हो, इसका "वास्तविक इच्छा" की भांति बुरी तरह वर्णन किया गया है। व्यक्तियोंकी यथार्थ इच्छाओंमें बहुतसे तत्व होते हैं जो पूर्णताके ऐसे आदर्शके सम्पर्कमें नहीं आते, और यह तत्व उतने ही वास्तविक हैं जितनी कि "वास्तविक इच्छा"। और फिर यदि "वास्तविक" इच्छाका अर्थ है संगठित प्रयोजनों या उद्देश्योंकी पूर्णतया स्पष्ट योजना, तो यह आदर्श है वास्तविक इच्छा नहीं।

२. कुछ भी हो, समस्याकी कठिनता वास्तवमें इस आदर्श और सामान्येच्छाको एक ही कर देनेमें है। यह आन्तरिक तत्व और अस्तित्वकी गड़बड़ीके ऊपर आश्रित मालूम होता है; और यदि हम अपने मस्तिष्कके सामने उस अन्तरको रखनेका आग्रह करते हैं तो यह बिल्कुल नष्ट हो जाता है। यदि सारी इच्छाओंको सार्वलौकिक या सामान्य उद्देश्यकी ओर लक्ष्य करते हुए दिखा भी दिया जाए, तब भी वह आत्मिक अस्तित्वोंकी भांति पृथक रहेंगी।

३. क्योंकि सामान्येच्छा जैसी कोई चीज़ नहीं है, तो यह प्रश्न कि यह राज्यमें समाविष्ट है या नहीं, उठता ही नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य और जातिके अन्य रूप, एक प्रकारकी एकता नहीं प्रदर्शित करते, परन्तु केवल यह कि जो एकता इनमें है वह इसे बनानेवाले व्यक्तियोंके बीच का एक सम्बन्ध है जो आदर्शों और प्रयोजनोंके साम्य पर आश्रित है, और यह कि ऐसी एकताके लिए आवश्यक नहीं कि वास्तविक मानी गई हो और एक व्यक्ति या इच्छाकी भांति इसका वर्णन किया गया हो।† सामाजिक सिद्धान्तके प्रयोजनके लिए, साधारण स्वयं (common self) नहीं

* देखिए, रूसो, "A Discourse On Political Economy."

† देखिए E. Barker, "The Discredited State", "Political Quarterly", 1915.

वरन् एक साधारण लाभकी आवश्यकता है। यह सिद्ध करनेकी बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं है कि मस्तिष्कोंमें अस्तित्वका सादृश्य और एकता है, परन्तु केवल यह कि उनमें धार्मिक प्रत्ययका एकपन इस अर्थमें होता है कि उसी साधारण लाभके लिए प्रयास अवश्य करना चाहिए और उन्हीं आदर्शों से सजीव रहना चाहिए। जब हम समाजको एक प्रकारकी निरंकुश सत्ता कहते हैं, व्यक्ति जिसके प्रतिबिम्ब या आकृति हैं, या इसके सदस्योंके सम्बन्ध को एक प्रकारका धागा-सा कहते हैं, जो सम्बन्ध सब मनुष्योंमें एक समान हैं, तब हम वास्तवमें एक प्रत्यय या सामान्य प्रत्ययके विषयमें कह रहे हैं जिसका तार्किक अर्थ हो सकता है, परन्तु जो कि अन्य विद्यमान तथ्योंके साथ अस्तित्व रखनेवाला नहीं कहा जा सकता। जो एकता एक प्रत्ययकी है, वह सम्भवतया व्यक्तियोंके उस ढेरकी नहीं हो सकती जिसको वह प्रत्यय सूचित करता है।

इस अध्यायके परिणामोंकी एक साथ लानेकी दृष्टिसे निम्नलिखित बातों पर ज़ोर देना लाभदायक होगा। पहले हम उस भेद पर दृष्टिपात कर सकते हैं जो इच्छाके एक विशेष निश्चित कार्य और इच्छाकी आदत या स्वभाव, (अर्थात् उचित परिस्थितियोंमें इच्छा करनेकी क्षमता) या ऐसे स्वभावोंकी पद्धतियोंके बीच किया जा चुका है। इच्छाका विशेष कार्य और स्वभावगत इच्छा दोनों ही वास्तवमें व्यक्तिगत हैं, और व्यक्तिगतके अतिरिक्त कभी भी कुछ नहीं हो सकतीं। दूसरे, जिसे इच्छित या इच्छाका उद्देश्य कहते हैं उसे इन दोनोंसे अवश्य पृथक करना चाहिए। इच्छाका उद्देश्य इच्छाके बहुतसे कार्योंमें साधारण या व्यक्तिगत हो सकता है, चाहे उसी व्यक्तिका हो या बहुतसे व्यक्तियोंका। तीसरे हमें इच्छितसे वह पृथक करना चाहिए जो इच्छा योग्य है और जिसे इच्छा कहा जा सकता है, जिसकी प्रकृति इच्छित होनेमें नहीं है और जो यथार्थमें इच्छित या अनिच्छित हो सकता है। अब कदाचित् यह सिद्ध किया जा सके कि व्यक्तियोंकी इच्छाके कार्य और उनकी स्थायी स्वाभाविक इच्छाओंका एक साधारण उद्देश्य है, जैसे सामाजिक रचनाकी रक्षा। यह ऐसा होगा या नहीं यह यथार्थताका प्रश्न है और यदि इच्छा इसमें लक्षित उद्देश्यके स्पष्ट विचारकी उपस्थिति सम्मिलित करेगी तो ऐसी इच्छाका अस्तित्व केवल कुछ ज्ञानवान्

व्यक्तियोंमें ही मालूम होगा। अधिकांश लोगोंमें केवल एक हल्की-सी रुचि होती है जिसकी दौड़ मौन स्वीकृतिसे लेकर कोरी उदासीनता तक है। फिर, मान लो कि सामाजिक रचनाकी रक्षाकी इच्छा सब व्यक्तियोंमें है यह सिद्ध कर दिया जाए, तब भी यह साधारण उद्देश्यके लिए केवल एक संयुक्त इच्छा होगी।

इच्छाके उपरोक्त कार्य और स्वभावोंकी पद्धतियोंका पूर्णतया विवेकी होना आवश्यक नहीं और न वह जाति या व्यक्तिमें पूर्णतया विवेकी या अनुरूप होते हैं। उनके ऐसे होनेका विश्वास इच्छित और अच्छेके बीचकी गड़बड़ीके कारण मालूम होता है। यह निर्विकल्प रूपसे मान लिया गया है कि व्यक्तिके माने हुए वास्तविक स्वयं या एक 'निरंकुश मस्तिष्क' के द्वारा जो कुछ इच्छा योग्य है वही इच्छा किया जाता है। क्योंकि जो इच्छा-योग्य है वह अनुमानसे विवेकी और अनुरूप है, वास्तविक इच्छाको प्रयोजनों की विवेकमय पद्धतिकी भांति समझा जाता है, विशेष इच्छाएं जिसके अपूर्ण रूप हैं। यहां भी, मान लो कि सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्तिगत इच्छाएं विवेकमय हैं अतः अनुरूप लाभ पर लक्ष्य करती हैं, फिर भी वह एक सामान्येच्छा नहीं वरन् केवल एक संयुक्तेच्छा बनाएगी। यह विश्वास कि वह एक सामान्येच्छा अवश्य बनाती हैं, आन्तरिक तत्व और कार्यके बीचकी गड़बड़ीके कारण है। कार्य सदा व्यक्तिगत होते हैं, और न तो इच्छाका उद्देश्य और न लाभ व्यक्तिगत चेतनाके विद्यमान अंग हैं, क्योंकि या तो वह उद्देश्य हैं जिनका अस्तित्व है, और जिनके अस्तित्वकी इच्छा की जाती है, या वह उद्देश्य हैं जिनका अस्तित्व नहीं है, परन्तु हम सोचते हैं कि उनका अस्तित्व होना चाहिए। किसी भी स्थितिमें वह व्यक्तिके अंग नहीं बनते जब तक कि कर्त्ता और कर्मके बीचका पूरा अन्तर बेकार न हो जाए। अतः सामान्येच्छा पर एकता और नित्यताका आरोपण करनेमें कोई वास्तविक तात्पर्य नहीं मालूम होता।

उपरोक्तसे यह उपलक्षित नहीं है कि व्यक्ति अलग रहनेवाले प्राणी, स्वतंत्र वास्तविक हैं, जिनमें वह सब कुछ है जो उनके विकासके लिए आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि अनुभवके तरीक़े और आन्तरिक तत्व दोनों के लिए व्यक्ति अधिकतर सामाजिक वातावरणका ऋणी है, और यह कि

कार्योंका शासन करनेवाली शक्तियां सामाजिक सम्बन्धोंकी उत्पत्ति हैं, और समाजमें व्यक्तियोंकी अन्त:क्रियाओंसे उत्पन्न होती हैं, परन्तु समाजमें क्रियाशील मनोवैज्ञानिक शक्तियोंकी रचना प्रकृतिमें ऐकिक नहीं है, यद्यपि सर्वोच्च स्थितियोंमें वह शक्तियां एकताके अन्दर एकतामें निरुपित होती हैं।* एक राष्ट्रवासियोंकी संस्कृतिकी निम्नतम स्थितियोंमें सब सदस्योंके लिए समान अवस्थाएं होने पर और बिल्कुल नहीं या बहुत थोड़ा जाति भेद होने पर, उसके सदस्य चरित्रमें बहुत अनुरूप होते हैं और उनकी भावनाएं विचार, रुचियां सब समान प्रकारकी होती हैं। संस्कृतिकी अधिक उन्नत अवस्थाओंमें यद्यपि सब सदस्योंका चरित्र निश्चित करनेके लिए तलमें वही आवश्यक प्रभाव रहते हैं, और यद्यपि सभ्य जातिकी आध्यात्मिक सम्पत्तियों और भाषाकी उन्नतिके द्वारा उनके साधारण प्रभाव दृढ़ हो जाते हैं फिर भी, अन्तर हो जाते हैं और अनेक समूह बन जाते हैं जिनका अपना वायुमंडल होता है जो इसके सदस्योंके जीवन, कार्य और विचारको ढालता रहता है। व्यक्ति इनमें से एकसे अधिक समूहके सदस्य हो सकते हैं और होते हैं। दूसरे यह समूह निरन्तर बदलते और रूपान्तरित होते रहते हैं और ऐसी सामूहिक शक्ति उत्पन्न करते हैं जो सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवनमें परिवर्तनोंको निर्धारित करती है। इसमें से कुछ सामूहिक शक्तियां टिकाऊ संस्थाओंमें रह जाती हैं, परन्तु अन्यकी केवल एक अस्पष्ट, निराकार प्रकारकी सत्ता होती है, जो सामाजिक जाति-भेदों, राजनीतिक दलों, मूल्य निर्णयों, जो क्रमश: आचरणकी मर्यादा बन जाते हैं, मर्यादा शास्त्रों (codes of honour) और जनमतमें प्रदर्शित हो सकती हैं। इन सबके मान लिए जाने पर भी हम उद्देश्यपूर्ण मस्तिष्क और इच्छाके सिद्धान्त से बहुत दूर हैं। उपरोक्त मनोवैज्ञानिक तत्वोंकी रचनाके पास उस प्रकार की सत्ता नहीं जो एक व्यक्ति या स्वयंकी होती है, और न जिस प्रकारका प्रभाव यह व्यक्ति पर डालती है उसका वर्णन सामान्येच्छाकी भांति किया

---

* देखिए Hobhouse, "Social Evolution and Political Theory," and G. Schmoller, "Grundriss der Allgemeinen Volakswirtschaftslehre".

जा सकता है। समाजमें क्रियाशील, और इसकी संस्थाओं, पुस्तकों, विधियों आदिमें समाविष्ट विचारोंके जटिलके सम्बन्धमें कोई रहस्यकी आवश्यकता नहीं है। उनकी सार्थकता इस बातमें है कि वह पीढ़ी दर पीढ़ी व्यक्तिगत मस्तिष्कके द्वारा समझे गए, सुधारे और स्थिर किए गए होते हैं। फिर जो एकता विचार-समूहसे समुदायोंको मिलती है वह उन बन्धनोंकी निकटताके अनुसार बदलती रहती है जो सदस्यको उसके समूहके साथ सम्बद्ध करती है। सामाजिक संगठनोंके विषयमें कोई पवित्रता नहीं हैं। जैसा कि आधुनिक घटनाएं प्रदर्शित करती हैं राज्य भी परिवर्तित और रूपान्तरित हो सकते हैं, और सांस्कृतिक प्रभावोंके लिए, यह निश्चय ही साधारण अनुभव है कि व्यक्ति प्रायः उनको रोक सकते, रोकते और छोड़ते हैं, जैसे अपनी जातिके धर्म और भाषाको छोड़कर दूसरा ग्रहण करते हैं। कोई भी समुदाय या अनेक समुदाय मनुष्यके समस्त जीवनको अपनेमें सम्मिलित नहीं कर सकते। मनुष्य अवश्य साधारण जीवनमें भाग लेते और सामूहिक प्राप्तिमें अपना हिस्सा देते हैं, तथापि इस जीवन पर व्यक्तिके परस्पर सम्बन्धमें रहनेवाले जीवनोंकी वास्तविकतासे अधिक वास्तविकता के आरोपणसे गड़बड़ीके अतिरिक्त और कोई परिणाम नहीं हो सकता।

अध्याय ६

मूलवंशीय और राष्ट्रीय विशेषताएं

हमने ऊपर देखा कि सामाजिक मस्तिष्ककी कल्पनाके अन्दर एक दिये हुए राष्ट्र या समाजके सदस्योंमें साधारण तत्वोंको सम्मिलित किया था, जैसे सदृश उत्तेजनाओंके प्रति साधारण प्रतिक्रियाएं, समान पैतृक-रचनाके कारण व्यवहारकी साधारण विधियां आदि। यह वह साधारण तत्व हैं जो "एक राष्ट्रवासियोंकी आत्मा" शीर्षकके नीचे प्रायः संग्रह किए जाते हैं, और बहुतसे लेखकोंने इस प्रत्ययको दिये हुए राष्ट्रवासियोंका इतिहास समझाने के लिए प्रयोग किया है, जैसे कि यह एक वास्तविक सत्ताको सूचित कर रहा हो, जो कि व्यक्तियोंकी उन पीढ़ियोंसे भिन्न है जो राष्ट्रको बनाते हैं, और विभिन्न राष्ट्रोंमें अन्तर बतानेके लिए भी इसका प्रयोग किया है। इस समस्या पर विचार करनेके प्रारम्भमें ही यह आवश्यक है कि जातियों और राष्ट्रों में भेद किया जाये। यहां हम जातीय प्रकृतिकी बहुत कठिन समस्या पर विवाद नहीं कर सकते। सामान्यतया मानवशास्त्रज्ञों (anthropologists) ने जो नियम ग्रहण किये हैं वह कुछ शारीरिक विशेषताएं हैं, जैसे, सिरका परिमाण और आकार या रंग। परन्तु यह सम्भव मालूम होता है कि जैसे दैहिक प्रकार हैं जो कि परम्परा और चुनावसे उन्हीं अवस्थाओंमें दीर्घकालीन स्थितिके कारण निश्चित किए गये हैं, उसी प्रकार अपेक्षाकृत स्थिरताके आत्मिक (Psychical) प्रकार भी निकले होंगे। यह याद रखना चाहिये कि आत्मिक मूलवंशीय (racial) विशेषताओंके सम्बन्धमें निश्चयसे बहुत कम मालूम है, और यह बिल्कुल सम्भव है कि कुछ भी हो अन्तिम भेद ऐसे बड़े नहीं हैं, जैसे कि प्रायः कहे जाते हैं। परन्तु यह मानकर कि विभिन्न मूलवंशों (races) के अनुरूप कुछ आत्मिक प्रकार हैं, इन प्रकारोंको किस तरह समझना चाहिए? क्या एक दिए हुए मानसिक

प्रकारके अस्तित्वमें मूलवंशीय आत्माके लिए अपील सम्मिलित है, जो इसके सब सदस्योंमें अन्तरस्थ है? यह नहीं मालूम होता कि ज्ञात बातोंके लिए ऐसे अनुमानकी आवश्यकता है। विषयको समझनेके लिए कमसे कम दो तरीक़े सम्भव हैं। हमारा यह तात्पर्य हो सकता है कि सब मूलवंश एक दूसरे से भिन्न होते हैं इस कारण कि किसी एक मूलवंशके **सब सदस्यों** में कुछ ऐसे मानसिक गुण हैं जो अन्य मूलवंशके किसी भी सदस्यमें नहीं हैं। वर्तमान शरीर-विज्ञानके (biological) शब्दार्थमें इन मानसिक गुणोंको "अस्थिरताओं" की भांति समझा जायेगा, अर्थात् दी हुई सीमाओंके अन्दर एक औसतके आसपास बदलते हुए समझा जायेगा; क्योंकि स्पष्टतया, दी हुई जातिके सदस्योंके बीच भी अत्यधिक व्यक्तिगत अन्तर होते हैं। या, हमारा तात्पर्य यह हो सकता है कि सब मूलवंशोंमें समान गुण हैं, परन्तु उनका वितरण इस प्रकार विभिन्न है कि जैसे, किसी प्रकारकी उच्च योग्यता, यद्यपि सब जातियोंमें होती है, कुछ जातियोंमें अन्यसे अधिक अनुपातमें होती है। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण मानी जानेवाली जातियां एक दूसरेसे भिन्न होंगी, यद्यपि एक जातिके व्यक्ति दूसरी जातिके व्यक्तियोंसे बहुत कुछ समान हो सकते हैं। मूलवंशीय (racial) प्रकारोंसे जो मतलब हो सकता है उसके इन दोनों सम्भव अर्थोंमें से एक भी एक जातिके सारे सदस्योंकी आत्मिक सत्ताको उपलक्षित या सम्मिलित नहीं करता। किसी आत्मिक बातकी व्याख्याके लिए जातिको अपील करना किसी भी स्थितिमें आपत्तिपूर्ण है। दैहिक प्रमाण ढूंढनेके लिए जो कठिनाई मानवशास्त्रज्ञ (anthropologists) अनुभव करते हैं उनको याद करते हुए हमें आत्मिक प्रमाणका प्रयोग करनेमें सावधान रहना चाहिए, जबतक कि हममें शुद्धतामें मस्तिष्क-विज्ञान (craniometry) के कुछ भी समान चरित्र विज्ञान (characterology), लेखप्रमाण (record) तथा निरीक्षणकी विधि नहीं है। जहां कहीं हमें मूलवंशीय आत्मिक विशेषताएं मिल जाती हैं वहां भी हमारे पास निश्चित करनेके लिए यह कठिन प्रश्न रह जाता है कि इनका कारण कहां तक परम्परा, और कहां तक वातावरण तथा इतिहास है। प्रो० मैकाइवरके साथ हम कह सकते हैं कि "जितना हम मूलवंशीय आत्माकी खोजमें मार्ग भटकते हैं उतना अधिक किसी चीजमें नहीं भटकते, यदि मल-

वंशीय आत्मासे हमारा तात्पर्य वातावरण से स्वतन्त्र रूपमें प्रकाशित मौलिक चरित्रोंके केन्द्रसे है। इसके ढूंढनेमें विचारोंके पृथक्करण (abstraction) की आपत्तिपूर्ण प्रणाली सम्मिलित होती है, जो कि मनुष्योंके मस्तिष्कों और परिस्थितियोंकी निरन्तर अनन्त प्रतिक्रियाओंके द्वारा बने हुए जीवन और चरित्रके जालको खोलनेकी बिल्कुल या लगभग असम्भव प्रणाली है" ("Community", P. 148)

तबतक हम राष्ट्रकी यह परिभाषा कर सकते हैं, "एक सामाजिक समूह जो एक उस प्रकारकी चेतनासे बंधा हुआ हो जो उसके ऐतिहासिक भूतके द्वारा जागृत रूढ़ियोंसे निकलती है, और जो एक निश्चित स्वदेशसे प्रत्यक्ष सम्बद्ध है।"* हमारे वर्तमान विवादके दृष्टिकोणसे यह ध्यान देना आवश्यक है कि वास्तवमें दो समस्याएं सम्मिलित हैं और उनका वास्तवमें सामना करना है। पहले तो राष्ट्रीयताके स्थायी भावके विकासकी समस्या है, अर्थात् समूहके सदस्योंकी यह चेतना कि उनका अमुक समूहसे सम्बन्ध है और अनेक विभिन्न संवेगशील स्वभावोंको उस समूहको अपना उद्देश्य या केन्द्र मानकर एकत्रित होना। दूसरे हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या वास्तवमें कोई ऐसी चीज़ है जैसे पृथक् राष्ट्रीय मस्तिष्क या चरित्र, और ऐसे वाक्य खंडों का बिल्कुल ठीक क्या तात्पर्य है।

१. राष्ट्रीयताके स्थायी भावके सम्बन्धमें कुछ समयसे बहुत लिखा जा चुका है, और इसका प्राकृतिक इतिहास अब बहुत कुछ स्पष्ट है। मूलवंशीय एकता निश्चय ही राष्ट्रीय चेतनाकी आवश्यक अवस्था नहीं है। प्रत्येक महान् राष्ट्रमें विभिन्न जातीय समुदायके मनुष्य हैं। जैसे ब्रिटिश द्वीप समूह में योरोपके तीनों मुख्य मूलवंशों मैडिटरेनियन (Mediterranean), आल्पाइन और नॉडिक, तथा अन्य विभिन्न उपमूलवंशोंके प्रतिनिधि हैं। जातीय आधार पर योरोपकी जनसंख्याका विभाजन राष्ट्रीय समूहोंको काटता हुआ जायगा, जैसा कि हम जानते हैं नार्मन और यॉर्कशायरके आदमी एक, और वेल्श तथा ब्रिटेन दूसरा समूह बना लेंगे। प्रत्यक्ष निरीक्षणसे पता लगता है कि जातीय एकता या रक्तका एक होना आवश्यक नहीं है। ट्यूटॉनिक

---

* Sidney Herbert, "Nationality", P. 37.

(Teutonic) वातावरणमें पाला गया स्लाव (Slav) बिल्कुल जर्मन हो जायेगा। आगे भी यह सरलतासे दिखाया जा सकता है कि भाषाका एक सा होना न तो पर्याप्त है और न राष्ट्रीयताकी भावनाके लिए आवश्यक, जैसा कि स्विट्ज़रलैंडके उदाहरणसे स्पष्ट है जो कि त्रिभाषिक है, और बेलजियम तथा कनाडा जो कि द्विभाषिक हैं। और न धर्मकी एकता होना आवश्यक है। ऐसे बहुतसे उदाहरण हैं जहां देशप्रेम और राष्ट्रीय संयोगके साथ विभिन्न धर्म और विभिन्न विश्वास मिलते हैं; जर्मनी, इंगलैंड और भारत का उदाहरण लो। साधारण राजनीतिक शासन निस्सन्देह एक प्रबल चीज़ है, परन्तु ऐसे उदाहरण भी हैं जहां राजनीतिक संघने राष्ट्रीय संघको उन्नत नहीं किया, जैसे आयर्लैंड, ऑस्ट्रिया, हंगरी और ज़ारका रूस। यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है, फिर भी यह सब बातें सहायक कारणोंकी भांति बहुत आवश्यक हो सकती हैं और हुई भी हैं। परन्तु सार्वलौकिक स्वीकृतिके द्वारा एक बात मौलिक रूपसे महत्वशाली है, वह है साधारण आचार और रूढ़ियां, भूतकालके साधारण संस्मरण, और साधारण भविष्यके लिये अभिलाषाएं। रेनन (Renan) कहते हैं कि राष्ट्र एक आध्यात्मिक नियम है जो विशेषकर दो चीज़ोंसे बना है: "एक तो संस्मरणोंकी भरपूर प्राप्ति पर साधारण अधिकार; और दूसरा, यथार्थ स्वीकृति, एक साथ रहनेकी इच्छा, प्राप्त अदृश्य बपौतीका सर्वोत्तम प्रयोग करते रहनेको इच्छा।" कभी-कभी भौगोलिक पृथक्त्वके द्वारा भी राष्ट्रीयताकी भावनाका विकास बढ़ जाता है, जैसा कि इंगलैंडमें इस स्थायी भावके प्रारम्भिक विकाससे चित्रित होता है और सबके ऊपर, एक साधारण शत्रुसे सम्पर्क और संघर्ष तथा आक्रमणको रोकने से बढ़ जाता है। अतः जैसे १५वीं शताब्दी में यह अंग्रेज़ी प्रभुत्वकी प्रतिक्रिया थी कि फ्रांसमें राष्ट्रीयताकी भावना जागृत हुई। स्पेनके विरुद्ध संघर्षों में डच एक राष्ट्र बन गया, और वर्तमान कालमें नेपोलियोनिक युद्धोंमें राष्ट्रीयताका नियम सबसे अधिक घोषित रूपमें प्रकट हुआ। यहांपर इंगित अर्थमें राष्ट्रीयता अवश्य ही वह स्थायीभाव है, जो दिये हुए एक सामाजिक समूहके सब सदस्योंके द्वारा या बहुमतके द्वारा विभिन्न मात्रामें अनुभव किया जाता है और इसमें संयोगशील स्वभावोंके जटिल होते हैं, इन स्वभावोंका उद्देश्य या केन्द्र है समूह और वह सब जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है,

अर्थात् इसकी रूढ़ियां, आदर्श और अभिलाषाएं। इस स्थायीभावके प्राकृतिक इतिहासका पता लगाया जा सकता है और जो बातें इसकी सहायक हैं वह गिनाई जा सकती हैं और जीवन संघर्षमें इसके प्राणिविद्या सम्बन्धी (biological) मूल्यको सरलतासे मान दिया जा सकता है।

२. ऊपर निर्दिष्टमें से दूसरी समस्या कहीं अधिक कठिन है। हमने रहस्यमय, ऐकिक, सामाजिक मस्तिष्कके प्रत्ययको तो त्याग दिया है, अतः अब हम किस अर्थमें आत्मिक गुणको राष्ट्रीयकी भांति कह सकते हैं, और क्या **राष्ट्रीय चरित्र** जैसी कोई चीज़ है ? मैं सोचता हूं कि यह पद (term) वास्तविकताओंके लिये है और वैज्ञानिक खोजोंके प्रयोजनके लिए उसका एक कुछ निश्चित अर्थ लगाया जा सकता है। "एक राष्ट्रवासियोंके" आत्मिक गुण वह होते हैं जो उनमें खूब फैले हुए हों, अनुभवके प्रकार, इच्छा करना, सोचना और कार्य करना, जो कि उनके व्यवहारको रूप देनेमें आवश्यक हैं और इस अर्थमें उनकी विशेषता है कि वह उनको अन्य समूहोंके सदस्योंसे पृथक् करनेमें हमें समर्थ करते हैं। यदि हम चाहें तो आत्मा या मस्तिष्क शब्दका प्रयोग एक राष्ट्रके सदष्योंके विस्तृत गुणों और ऐसी विशेषताओं की समष्टि (totality) को सूचित करनेके लिए कर सकते हैं, चाहे हमें हानि उठानी पड़े, परन्तु हमें उस समष्टिमें चेतन धर्म आरोपित करने जहां सब कुछ असफल हो जाये, अपनी अज्ञानता छिपानेके लिए, इस व्याख्याके नियमकी भांति प्रयोग करनेमें सावधान रहना चाहिए। हालमें विभिन्न राष्ट्रवासियोंके मनोविज्ञानके सम्बन्धमें बहुतसे लेख लिखे गये हैं, परन्तु उनके वास्तविक वैज्ञानिक मूल्यको आंकना अत्यधिक कठिन है। जिन लेखकोंने अपने नहीं अन्य राष्ट्रवासियोंका मनोविज्ञान लिखा है उनके वर्णनोंकी तुलना का कार्य रोचक तो है, परन्तु विशेष लाभप्रद नहीं। मैं सोचता हूं यह पता चलेगा कि बहुत-सी स्थितियोंमें परिणाम एक दूसरेको रद्द करते हैं। विशेषकर यह ध्यान देना रुचिकर है कि लगभग सब लेखक यह मानते हैं कि उनका अपना राष्ट्र जटिलता और विभिन्नतामें सबसे अधिक धनी है ! वास्तवमें विभिन्न राष्ट्रवासियोंका वैज्ञानिक मनोविज्ञान केवल जब सम्भव होगा जबकि हमारे पास चरित्रका एक विकसित विज्ञान हो और लेखप्रमाण (records) और निरीक्षणकी एक विस्तृत विश्वस्त पद्धति हो। आजकल विशेषकर लोग

मनोविज्ञान (differential folk psychology), सुगम सामान्य अनुमानोंसे भरा पड़ा है; यह अनुमान थोड़ेसे लोगोंके आचरणके अस्पष्ट प्रभावों पर या चुने हुए साहित्यिक प्रतिनिधियोंके प्रमाणपर आश्रित है। फिर भी राष्ट्रीय विशेषताओंको अस्वीकार करना ग़लती होगी। जैसा कि स्टाइनमेत्स (Steinmetz) ने कहा है,* "यदि हम पैतृक जातीय स्वभावों और गुणोंको मान लें तो हम यह माननेको विवश होंगे कि विभिन्न राष्ट्रोंमें जिस असमान प्रकारसे जातियां मिश्रित हैं, उनमें वह अवश्य राष्ट्रीय विशेषताएं उत्पन्न करेंगे और यह परम्पराके द्वारा एकसे दूसरेमें पहुंच सकेंगी। दूसरे ऐसी जनसंख्यामें बड़े परिवर्तन जल्दी ही अवश्य होने चाहिएं क्योंकि इसकी सम्भावना कठिन है कि ऐतिहासिक घटनाएं विभिन्न राष्ट्रोंमें समान विशेषताओंको त्यागें या बढ़ाएं। बहुत थोड़ेसे समयमें जातियोंके विभिन्न मिश्रणके परिणामस्वरूप एक राष्ट्र मानसिक और शारीरिक बिल्कुल भिन्न रूप प्रदर्शित करेगा। अल्पकालीन होनेपर और यह कि उनमें मुख्यकर वही जातीय तत्व हैं, इन राष्ट्रोंमें बिल्कुल विभिन्न पैतृक विशेषताएं हो सकती हैं। और यह उस विभिन्न प्रकारके कारण होता है जिसमें विशेषताएं और पैतृक गुणोंकी विभिन्न श्रेणियोंपर दो राष्ट्रवासियों (peoples) में सामाजिक चुनाव कार्य करता है। वातावरणके अन्तर, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण, मूलवंशकी अपेक्षा बिना विभिन्न इतिहास बनाते हैं और यह विभिन्न इतिहास एक विभिन्न सामाजिक चुनावका कारण होता है, तथा परिणामस्वरूप इन विशेषताओंके एकसे दूसरेमें जानेका एक विभिन्न अनुक्रम और विभिन्न राष्ट्रीय चरित्र हो जाता है।" जैसा कि हम देख चुके हैं, यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि ऐसे राष्ट्रीय चरित्रको बनानेवाले गुण कौनसे हैं। हम स्टाइनमेत्सको फिर उद्धृत कर सकते हैं "हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि वैराग्य, क्रूरता आदि जैसे विशिष्ट गुण पैतृक होते हैं, बल्कि इनके प्रति पूर्ण झुकाव भी पैतृक नहीं है। यह सब गुण सबसे सरल और अत्यन्त सामान्य

---

* "Der erbliche Rassen-und Volkscharacter," "Vierteljahreschrift f. Wissenseh. Philos. und Soziologie," 1902.

प्रकृतिकी विभिन्न विशेषताओंके परिणाम हैं, जिनके तीव्रताके विभिन्न अनुपातों और मात्राओंमें मिश्रण करनेसे चरित्रके वह रूप निकलते हैं जैसे कि वह हमें यथार्थमें अपने गौण रूपके सहित दिखाई पड़ते हैं। इनमें सन्देह नहीं कि दिये हुए चरित्रके मौलिक भागोंमें किसी ऐसी चीज़का अस्तित्व है जो, और विषय बराबर होते हुए, इसके स्वामीको वैराग्यकी ओर ले जायगी। हम इस चीज़को एक विचित्रता या विचारों और प्रदर्शनोंकी गति की तेज़ी की विशेष मात्रा, या किसी इन्द्रियकी कम या अधिक प्रतिक्रियाकी भांति या किसी समान रीतिसे चित्रित कर सकते हैं। चरित्र-विज्ञानको चाहिए कि वह प्रत्येक गौण या परिणामस्वरूप गुणकी प्रारम्भिक और प्राथमिक बातों की खोज करे। चरित्र-विज्ञान सम्बन्धी चुनाव सम्भव करनेके लिए केवल इन प्रारम्भिक बातोंका पैतृक होना आवश्यक है। इसका निषेध करनेवाले को आदिम निवासीसे लेकर पश्चिमी योरोपियन तकके सब आत्मिक स्वभावों की नितांत समानताको मानना चाहिये।" जातीय-मिश्रण, सामाजिक चुनाव और परम्परा सम्बन्धी बातोंके अतिरिक्त, एक राष्ट्रकी ऐतिहासिक घटनाएं, इसकी रूढ़ियां और संस्थाएं, इसकी सरकार और शिक्षा-पद्धति, सामूहिक प्रभाव और संकेत भी, क्रियाशील हैं, और यह सब मिलकर राष्ट्रीय प्रकार की अपेक्षाकृत स्थिरता उत्पन्न करते हुए तथा परम्पराके आगेकी पीढ़ियों में जाते हुए माने जा सकते हैं। कुछ भी हो, यहां हमें जन्मजात और उपार्जित विशेषताओं, प्रकृति और पालन-पोषणके सम्बन्धकी बहुत कठिन समस्या और उपार्जित विशेषताओंको दूसरी पीढ़ियोंमें पहुंचनेकी समस्याका सामना करना है। जैसे यह सोचा जा सकता है कि संस्थाओं और ऐतिहासिक घटनाओंके प्रभाव सामान्यतया स्थायी नहीं हो सकते, और यदि राष्ट्रीय प्रकार होते भी हों तो उनका अन्तिम कारण मौलिक और प्रारम्भिक अन्तर होंगे। यह बहुत बड़ी समस्या है और इस पर यहां वादविवाद नहीं हो सकता। कदाचित् हम स्टर्न (Stern) के साथ कह सकते हैं * कि "वास्तवमें जन्मजात और उपार्जित गुणोंको सूक्ष्मतासे अलग करना सम्भव नहीं है। जो जन्मजात है वह कोई गुण नहीं है, वरन् केवल इसके प्रति एक अनिश्चित

---

* "Differentielle Psychologie", pp. 27, 69.

स्थिति है। इसी प्रकार जो उपार्जित है वह भी कभी कोई गुण नहीं है, क्योंकि एक गुण भी जिसने अपना शुद्ध रूप बाह्य बातोंकी अति प्रबल क्रिया के परिणामस्वरूप प्राप्त किया है, उसमें कार्य करनेको बाह्य प्रभावके लिए कोई स्वभाव-सम्बन्धी आधार अवश्य रहा होगा।"

जो कुछ भी हो, राष्ट्रीय चरित्रके प्रत्ययमें ऐकिक सामाजिक मस्तिष्क के लिए कोई अपील नहीं है। यह इस बातको अवश्य सूचित करता है कि एक व्यक्ति और उसके राष्ट्रके बीचका सम्बन्ध बहुत निकट और आंगिक (organic) है, और यह कि उसके आत्मिक गुण अधिकांशमें आन्तरिक तत्व (content) और रूप दोनोंमें, उसके राष्ट्रके प्रभाव और इसकी (राष्ट्रके) प्राणिविद्या सम्बन्धी सामाजिक बपौती (heritage) के कारण हैं। परन्तु सम्बन्ध पारस्परिक हैं। "समुदायका अपनी इकाइयोंपर शासन, उनकी क्रियाओं, स्थायीभावों और विचारोंको सदा सामाजिक आवश्यकताओंके अनुकूल बनानेको प्रवृत रहता है; और जहांतक यह क्रियाएं, स्थायीभाव और विचार, बदलती हुई परिस्थितियोंके साथ बदले हैं, समाजको अपने साथ फिरसे अनुकूल बनानेको प्रवृत्त रहते हैं।" (Spencer, "Principles of Sociology", I. 10).

उपरोक्त प्रारम्भिक गुणोंके सम्बन्धमें यही सत्य है। पैतृक स्वभाव, सामाजिक अनुभवोंके द्वारा निर्धारित और वातावरणके प्रभावके अन्दर आये हुए रूपमें यथार्थ हो जाते हैं। सामान्यतया संस्था और रूढ़ियां व्यक्तियोंके व्यवहारको ढालतीं और उस तरीक़ेको निश्चित करती हैं जिसमें पैतृक स्वभाव यथार्थताको प्राप्त होंगे। परन्तु दूसरी ओर रूढ़ियां और संस्थाएं स्वयं अन्तमें जन्मजात स्वभावोंके कारण हैं, जो सामाजिक और स्थूल वातावरण की अवस्थाओंके द्वारा क्रियाके लिए उत्तेजित हैं, और जिन परिवर्तनशील परिस्थितियोंमें मनुष्य अपनेको पाता है उनके द्वारा निरन्तर सुधरती रहती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय चरित्र सहकारितामें बहुत-सी शक्तियोंकी एक जटिल उत्पत्ति है। रूढ़ि, सामाजिक संकेत, जातिमिश्रण, सामाजिक चुनाव, जलवायु सम्बन्धी अवस्थाएं, सब सहायक कारण हैं, इनमेंसे प्रत्येकका भाग अलग करना असम्भव है। परन्तु जो परिणाम निकलता है, वह राष्ट्रको बनानेवाले व्यक्तियोंपर मंडराती हुई एक रहस्यमय सत्ता नहीं है वरन् वह

किसी राष्ट्रमें विस्तृत और उनको विशेष प्रधान आत्मिक विशेषताओंकी समष्टिसे बनती हैं, जो उनके व्यवहारको प्रभावित करतीं और पीढ़ियोंके क्रममें न्यूनाधिक निरन्तरताके साथ प्रकाशित होती हैं। इसके अतिरिक्त किसी और अर्थमें राष्ट्रीय आत्माके भावकी सामाजिक मनोविज्ञानमें आवश्यकता नहीं मालूम होती, या व्याख्याके नियमकी भांति इसका कोई मूल्य नहीं मालूम होता।

अध्याय ७

रूढ़ि

एक राष्ट्रसे सम्बन्ध रखनेवाले और एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें जाने वाले सब विचारों, आदतों और आचारोंका जोड़ रूढ़ि है। सामाजिक बपौती की भांति इसका वर्णन करना अनुचित नहीं है, क्योंकि इसकी क्रियाशीलता की विधिका प्राणविज्ञान सम्बन्धी परम्परासे निकट सादृश्य है। यह परम्परा की भांति कार्योंको आकृति देती, और व्यवहार निर्धारित करती है। और उसीकी भांति यह आवश्यक रूपसे निन्तरताका नियम है, तथा यह भूतकाल के कार्योंको भविष्य काल तक पहुंचा देती है। हमने देखा है कि राष्ट्रीयताके स्थायीभावके विकासमें राष्ट्रीय प्रकारोंको यथार्थमें रूप देनेमें भी रुढ़ि बहुत आवश्यक है। कदाचित् उन लोगोंसे जिनकी रूढ़ियां बहुत प्राचीन हैं, उनकी विरोधात्मक तुलना करके जिनमें कोई स्थिर रूढ़ियां नहीं है रूढ़िका महत्व दिखाया जा सकता है। रूसी दार्शनिक कोडाजो (Coadajew) का विचार है कि रूसियोंमें इस शक्तिका वास्तवमें अभाव है और यह अभाव उनके राष्ट्रीय चरित्रकी एक वास्तविक निर्बलताका अंग है, और उनकी अपेक्षाकृत मानसिक और शारीरिक अस्थिरताका भी कारण है। निम्न-लिखित खंड जो डाक्टर इलिअस हुरविज़ा (Elias Hurwiez) के डाई सीलेनडेर वोल्कर "(Die Seelender Volker, में दिये गये उद्धृतांश मेरे द्वारा किया गया अनुवाद है, जिससे यह बात स्पष्ट हो जायेगी: "मनुष्य जीवन क्या है, यदि पहली घटनाओंके संस्मरण भूतकालसे वर्त्तमानको सम्बद्ध नहीं करते (Cicero)। हम बिना बपौतीके अन्य दोगले बच्चोंकी भांति अपने मस्तिष्कमें भूतकालकी भी कुछ भी शिक्षाको नहीं रख सकते। हममेंसे प्रत्येक अपने सम्बन्धोंके टूटे धागोंको फिरसे चुननेके लिए विवश हो जाता है। जो अन्य राष्ट्रवालोंके साथ आदतजन्य और मूलप्रवृत्तिशील

हो गया है। हमारे सिरोंमें हथौड़ीकी चोटसे बैठाया जाता है हमारी स्मृति कल (yesterday) से पीछे नहीं जा सकती : हम लोग एक तरहसे अपने लिये ही अजनबी हैं। हम इस विचित्र तरीक़ेसे चलते हैं कि आगेके प्रत्येक पगके साथ पिछला काल इस प्रकार लुप्त हो जाता है कि वह लौटेगा ही नहीं। अनुकरण और दूसरोंके लिये हुए तत्वों पर आश्रित संस्कृतिका यह प्राकृतिक परिणाम है। हम अन्दरसे विकासके मार्गका अनुसरण नहीं करते, प्राकृतिक है कि हम उन्नति नहीं करते, प्रत्येक नया विचार पुराने विचारों को इस प्रकार हटा देता है कि उसका चिन्ह भी नहीं रह जाता क्योंकि यह उनसे नहीं निकलता, परन्तु कहांसे आता है यह भगवान् ही जाने। क्योंकि हम केवल पहलेसे तैयार विचार प्राप्त करते हैं, हमारे मस्तिष्कोंमें वह मार्ग नहीं बन पाते जिससे उत्तरोतर उन्नति सम्भव होती है। हम बढ़ते हैं परन्तु परिपक्व नहीं होते, हम आगे बढ़ते हैं परन्तु दिशारहित मार्ग पर। हम उन बच्चोंकी भांति नहीं हैं, जिन्हें अपने आप सोचना नहीं सिखाया गया, उनकी परिपक्व अवस्थामें यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका अपना कुछ भी नहीं है; और जो कुछ वह जानते हैं वह उनकी सत्ताके धरातल पर हैं और उनकी आत्मा उनके बाहर रहती है। यही बात हमारे साथ है। यह देखना सरल है कि एक राष्ट्रवासियोंके इस विचित्र भाग्यका जो कि अपने विचारको एक धीरे-धीरे विकसित होनेवाली श्रृंखलामें बुद्ध नहीं कर पाया था और जिसने अन्धे, ऊपरी और प्रायः असफल अनुकरणके द्वारा मनुष्य की आत्माके सामान्य विकासमें केवल भाग लिया है—प्रत्येक सदस्यकी मानसिक शक्तिपर प्रबल प्रभाव होना अनिवार्य था। परिणाम स्वरूप तुम देखोगे कि हम सबमें तर्क, विधि और विश्वासका अभाव है। यह मनुष्यके लिए प्राकृतिक है कि वह चीजों पर अपना अधिकार खो दे, जब कि उसे भूत और भविष्यसे सम्बद्ध होनेका कोई साधन न मिले। वह सब स्थिरता और विश्वास खो देता हैं। निरन्तरताकी भावनाके मार्ग प्रदर्शनके विना वह दुनियामें खो जाता है। इस प्रकारके जड़से उखाड़े हुए मनुष्य प्रत्येक देश में मिल सकते हैं; हमारे देशमें यह साधारण बात है। इससे भावनाकी चपलतासे कुछ मतलब नहीं है, जिसके लिए एक समय फ़्रांसीसियोंको धिक्कारा जाता था और जो जड़में केवल शीघ्र अनुकल होनेकी योग्यता थी और

जिसमें चौड़ाई और गहराई भी थी तथा जिससे मानुषिक सहवासको आकर्षण और सौन्दर्य मिला। क्या यह जीवनकी अनुभव और पूर्वदृष्टि रहित असावधानी है जो अपने लोगोंसे अलग हो जानेवाले व्यक्तिके क्षणिक अस्तित्वके अतिरिक्त और किसीपर विचार नहीं करती। हमारे मस्तिष्क में कोई साधारण वस्तु नहीं है, वहां प्रत्येक वस्तु अलग स्थायी और अपूर्ण है। अवश्य हम अपनी अनिमेष दृष्टिमें कोई अस्पष्ट, उदासीन और अनिश्चित वस्तु पाते हैं जो हमें उन लोगोंकी मुखमुद्रा याद दिलाती है जो सामाजिक क्रममें निम्नतम स्तर पर है।" अधिक हालमें इस्गोजो (Isgojew) ने रूसी युवकों पर रूढ़िके इस अपेक्षाकृत अभावका प्रभाव दिखाया हैं, और यह सम्भव है कि रूसमें जीवन कार्योंकी वर्त्तमान अवस्था है, उसका एक मुख्य कारण इसमें मिल सकता है।

पुस्तकों, शिक्षाप्रणाली, आदिके द्वारा जिस विधिमें बौद्धिक रूढ़ि क्रियाशील होती है, वह काफ़ी परिचित है, और यहां उसपर विवाद नहीं किया जायेगा। केवल आचार पर ध्यान सीमित और संक्षेपमें विधियों और नीतियोंसे इसके सम्बन्ध पर विचार किया जायेगा।

वुंट आचारकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि वह ऐच्छिक कार्य का रूप है जो एक राष्ट्रीय या जाति विशेषमें विकसित किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे, कुछ बातोंमें आचार आदतसे मिलता है, अर्थात् आचार वह आदत है जिसका अनुसरण केवल एक व्यक्ति नहीं वरन् एक जातिकी बहुसंख्या करती है। परन्तु आचार और आदत किसी प्रकार भी एक नहीं हैं। आचारमें केवल एक नियम या सिद्धान्त सम्मिलित होता है और यह आवश्यक (obligatory) प्रकृतिका होता है। नियम शब्दसे आचारके दो विशेष लक्षण प्रत्यक्ष करनेका विचार है, वह हैं, (१) आचार केवल व्यवहार या कार्यकी प्रचलित आदत नहीं वरन् व्यवहार और कार्य पर एक निर्णय उपलक्षित और (२) यह निर्णय इसके शब्दोंमें सामान्य और अकर्तृक (impersonal) है। आचारकी आवश्यक प्रकृतिके कारण हम इसे रीति (usage) से अलग कर सकते हैं। रीति उन कार्योंसे बनती है जो एक जातिके सदस्योंके लिए आदतजन्य हैं, जो नियमित प्रकृतिके नहीं हैं और जिनमें नैतिक रुकावटका अभाव है। इस प्रकार आचार आदतसे

अपनी सार्वलौकिक और नियमित प्रकृतिके द्वारा और रीतिसे विशेषकर अपनी नियमित प्रकृतिके द्वारा पृथक् किया जा सकता है। दूसरे शब्दोंमें आचार आज्ञप्ति (sanctioned) रीति (usage) है।

आचारको लोक-व्यवहार (फ़ैशन) से भी अलग करता है। कभी-कभी यह कहा जाता हैं कि कार्यकी समकालीन अनुरूपता फ़ैशन है। अर्थात् इसके प्रभावमें प्रत्येक व्यक्ति वही करता है जो हरेक अन्य कर रहा है। और इस प्रकार यह, अनुकरण पर आश्रित है जब कि आचार परम्परागत अनुरूपता है; दूसरे शब्दोंमें, आचारके अनुसार कार्य करता हुआ प्रत्येक मनुष्य वही करता है, जो पहले भी किया जा चुका है, और तब यह अवश्य आदत पर आधारित है। परन्तु इसके कुछ अधिक आवश्यक विशिष्ट लक्षण भी हैं। पहले तो आचार, समाजकी मौलिक और स्थायी आवश्यकताओंसे सम्बद्ध मालूम होता है। जब कि फ़ैशन या व्यवहार (vogue) जीवनके कम आवश्यक और कम सामान्य क्षेत्रोंको प्रभावित करता हुआ मालूम होता है। फ़ैशन अवश्य क्षणिक और पविर्तनशील है। वास्तवमें यह बारबार होने-वाले परिवर्त्तनोंकी श्रेणी है जिनमें तालमय अनुकरण और नवीनता दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर आचार आवश्यक रूपसे चिरस्थायी और सतत है, और इसमें केवल धीमा परिवर्त्तन हो सकता है। हां, कुछ फ़ैशन ऐसे भी हैं, जो नहीं बदलते, परन्तु जहां तक यह बात है, वह वास्तवमें आचार हो गये हैं; दूसरे शब्दोंमें, उनमें भूत या वर्त्तमान दोनोंकी प्रतिष्ठा है। दूसरे आचार और फ़ैशनके बीच प्रेरकका पूर्ण अन्तर मालूम होगा। केवल कार्यकी एकरूपतासे ही किसीका नाम निर्धारण नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्यतः मूलप्रवृत्ति या परम्परा पर आश्रित बहुत कार्य एकरूप (unifom) होते हैं। परन्तु आचारका अनुकरण इसलिए होता है कि भूतकालमें भी इसका अनु-करण हुआ था, फ़ैशनका अनुसरण इसलिए होता है कि अब इसका अनुसरण हो रहा है। एक अर्थमें फ़ैशन नवीनता लाता है और इसका आधार इस कामनामें मिलता है कि व्यक्ति अपने को भिन्न और अलग दिखाना चाहता है। परन्तु आचारकी अधिकांश शक्तिका कारण यह है कि इसके द्वारा समाज ने नवीनताकी आपत्तिसे अपनी रक्षा कर ली है। इस प्रकार 'आचार' अनु-करण और "विधि" (mode) अनुकरण विभिन्न दिशाओंमें काम करते

हैं। एक प्राचीनको दृढ़ और स्थिर करनेमें प्रवृत्ति है, दूसरा नवीनतालाने और उसे अनुकरण द्वारा फैलानेमें।

आचारकी उत्पत्ति. वुंट बताते हैं कि "जहां तक हमें मालूम है आचार का विकास-मार्ग केवल एक ही है, वह तत्सम्बन्धी संदर्भके अग्रगामी आचार। दूसरी ओर रीति, फ़ैशन और आदतें, नये रूप और बहुत प्राचीन भूतकाल के अवशेष मिश्रित समूह बनाते हैं। स्थानान्तर (transmission) करना और नया रूप बनाना बड़ा कठिन है, परन्तु बिल्कुल नये आचार जैसी कोई चीज नहीं होती।" यह इस अर्थमें सत्य है कि आचार एक साधारण उत्पत्ति है, हजारों विभिन्न अन्त: क्रियाओंका परिणाम। परन्तु इसे समाज का एक उच्च मस्तिष्क या साधारण आत्माका अस्तित्व उपलक्षित करने वाला नहीं समझना चाहिए। अन्तमें, आचारका कारण होना चाहिए कुछ व्यक्तिगत आदतोंका अन्य व्यक्तिगत आदतोंसे मिलना, उनका एक दूसरेको निरन्तर सुधारते रहना, और इस प्रकार पृथक् विभागोंसे निर्मित एक परिणाम हो जाना। कुछ भी हो जैसा कि प्रो० हॉबहाउस कहते हैं।* हम लोग, और जो हमसे पहले आये, और हमसे बहुत भिन्न नहीं थे, समाज है, और भूतकालमें भी आचार उसी तरह बढ़ा होगा जैसा कि अब होता है। अब क्या होता है कि मत और निर्णय किसी एक केन्द्रसे फैलते, दूसरोंके मतसे टकराते, उनसे संघर्ष करते या उन्हें पुन:शक्ति देते, उन्हें सुधारते, या उनसे सुधारते और अन्त में विचारों के संघर्ष और प्रभावोंसे एक न्यूनाधिक स्थायी मत या निर्णय निकलता है, जो आगे या अन्य मनुष्योंके विचारोंको ढालनेमें प्रभावकी भांति कार्य करेगा। हममें सदैव व्यक्तिगत केन्द्र होते हैं जो सामाजिक वातावरणमें रहते और उन्नत होते तथा उस वातावरणके द्वारा सुधरते और उसे सुधारते हैं। जो विचार और कार्य या व्यवहारके सामान्य नियम समाजमें प्रारम्भ होते हैं वह अन्त:सम्बद्ध व्यक्तिगत मस्तिष्कोंके कारण हैं, और उनकी क्रमिक उन्नतिमें सम्मिलित सामाजिक प्रणालीकी प्रकृतिके सम्बन्धमें किसी रहस्यकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। यही बातें प्राचीन समाजमें भी क्रियाशील रही होंगी

---

* "Morals in Evolution" P. 13.

सिवाय इसके कि भूतकालकी अत्यधिक शक्तिके आगे छोटे विचारोंके बचे रहनेका अवसर बहुत कम रहा होगा, और अनुकरण या वादविवादके द्वारा उनका विस्तार करना कठिन रहा होगा, क्योंकि संचार-साधनोंकी कमी थी।

वुंटका विचार है कि सब आचार-सम्बन्धी कार्योंकी जड़ पूजाके कार्यों में है। इसके लिए कोई संतोषप्रद प्रमाण नहीं दिखाई पड़ता परन्तु इसमें संदेह नहीं कि आचारको दैविक-आज्ञायुक्त (divinely Sanctioned) माना जाता है।

आचारका कार्य. प्राकृतिक चुनावके सिद्धांतके अनुसार यह माना जाता है कि प्रतिक्षेप क्रियाएं (reflex acflon) और मूलप्रवृत्तिशील कार्य उन आकस्मिक और फैली हुई गतियोंमें से चुने गये हैं, जो कि सब जीवित वस्तुओंमें दिखाई पड़ती हैं और वह जीवन संघर्षमें मूल्यवान् होनेके कारण चालू रक्खी जाती हैं। विशेषकर मूलप्रवृत्तियोंका महत्व इस बातमें है कि उनके द्वारा एक पशु प्रत्येक पग पर सोचे बिना सम्पूर्ण श्रेणीके वास्तविक उद्देश्यको समझे बिना ही कार्योंकी जटिल श्रेणीको पार कर सकता है। इस प्रकार पैतृक-रचना एक प्राणीको अपने व्यक्तिगत अनुभव के बिना ही एक जटिल परिस्थितिमें सफलतापूर्वक कार्य करनेके योग्य बना देती है और इस प्रकार यह एक तरीक़ा है जिसमें जाति व्यक्ति पर क्रिया-शील होती है। अन्य पशुओंकी भांति, मनुष्य भी पैतृक व्यवहार विधियोंसे सम्पन्न है, यद्यपि मूलप्रवृत्तियां मनुष्यमें अकेलेमें नहीं बच सकतीं, वरन् एक दूसरेमें मिश्रित होती और अत्यधिक बदल जाती हैं, कुछ भी हो अनुभव के द्वारा उनकी सिद्धि या प्रदर्शनकी रीति और विधिमें परिवर्तन हो जाता है। मनुष्योंमें, मूलवंश व्यक्ति पर भी रुढ़ि या आचारोंके द्वारा क्रियाशील होता है; अर्थात् उन कार्य विधियोंको दूसरोंको देने या चालू रखनेके द्वारा जिन्हें भूतकालकी पीढ़ियोंने अपने अनुभवसे लाभप्रद सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार जो पहली पीढ़ियोंने पहलेसे ही सीख लिया है उसे प्रयत्न और भूलकी बड़ी प्रणालीसे नई पीढ़ियोंको बचानेका लाभ है। आचारका जब सामाजिक परम्पराकी भांति वर्णन करते हैं तब इसके इसी कार्य पर विचार होता है। यह इस बातमें मूलप्रवृत्तिशील और पैतृक कार्यविधियोंसे मिलता हुआ है कि जिन व्यवहार विधियोंकी व्यवस्था आचार करता है वह

(१) जातिके कारण होती हैं, (२) बिना किसी विवेकमय प्रणालीके कार्यरूपमें परिणत की जा सकती हैं और सामान्यतया की जाती हैं तथा (३) सामान्यतया समाजके सदस्योंके लिए लाभप्रद होती हैं या हुई हैं। अन्तिम बातके सम्बन्धमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कभी-कभी आचार अपने कार्यके समाप्त होनेके बाद भी ठहर जाते हैं और बिना कामके क्षय होते रहते हैं, तथा इस प्रकार समाजके लिए एक वास्तविक ख़तरा बन जाते हैं परन्तु अपने उद्गमके समय वह अपनी उपयोगिता और जीवनके लिए मूल्यवान् होनेके कारण अवश्य "अंकित" हो गये होंगे।

आचारकी शक्ति. साहित्यमें आचारके महान् प्रभाव पर प्रायः जोर दिया गया है जैसे शेक्सपीयर कहता है "निष्ठुर आचार"; मॉण्टेन इसे कहता है एक "क्रूर और धोखेबाज़ स्कूल अध्यापक", बेकनके अनुसार यह है "मनुष्य जीवनका प्रधान मजिस्ट्रेट", और लॉक इसमें "प्रकृतिकी अपेक्षा अधिक शक्ति" का आरोपण करता है*। निश्चय ही प्राचीन स्थितिके समाजोंमें साधारण जीवनके सब क्षेत्रोंमें पूरा हुआ है और आचारकी छोटीसे छोटी बातोंकी व्याख्या करता है; और उन्नत लोगोंमें आचार और फ़ैशन का राज्य उससे अधिक है जितना कि साधारणतया समझा जाता है। अन्त में, संभवतया आचारकी शक्तिका कारण कार्यकी एकरूपताकी प्राणविद्या सम्बन्धी उपयोगिता है। जैसा कि बेजहॉटने बताया है सामाजिक क्रमिक उन्नतिके प्रारंभिक भागमें यह अत्यधिक महत्वका रहा होगा, इसलिए कि कुछ सामान्य नियम स्थापित होने चाहिए जो मनुष्योंको एक साथ सम्बद्ध कर दें। उनसे बहुत कुछ समान चीज़े करवायें और उन्हें बता दें कि वह एक दूसरेसे क्या आशा रक्खें। निस्संदेह क्योंकि आचारका महत्व मनुष्य अधिकतर मूलप्रावृत्तिक रूपसे अनुभव करते हैं अतः इसमें एक अर्धदैविक आज्ञाप्राप्ति लगा दी गई और इससे विचलित होने या हट जाने पर कड़ी सजा मिलती थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे आचारकी शक्तिका कारण आदत और संकेतको बताते हैं। परन्तु ऐसी सामान्यताओंसे बहुत कम समझ में आता है। संकेतकी शक्तिका कारण किसी संवेगसम्बन्धी और मूलप्रवृत्ति-

* G. Roos, "Social Control", P. 184.

शील धारणाओंको अपील करनेके कारण है, जिसकी जागृति सब विरोधी विचारोंको रोकने और संकेत किए गए विचारके, अवधानके केन्द्रमें रखने तथा इसे संचालक शक्ति देनेको प्रवृत्त होती है। अतः जैसा कि हार्ट (Hart) ने दिखाया है कि प्रत्येक स्थितिमें जो विशेष धारणाएं सम्मिलित हैं उन्हें बताना आवश्यक है। संभवतया आचारकी संकेत शक्ति समुदाय मूलप्रवृत्तिके कारण है। ट्राटरने दिखाया है कि जो चीज़ हमारे पास समुदायसे आती है उसकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है। परिवर्त्तनकी अनिच्छाका कारण एक प्रकार अज्ञात भय भी मालूम होता है, जो एक प्रकारसे परिचित और प्राचीनके प्रति स्नेहका दूसरा पक्ष है। हो सकता है इसमें कोई चीज तत्सम्बन्धी हो। निश्चय ही, प्राचीन-स्थितिके मनुष्यकी सबसे प्रबल विशेषता अज्ञातका भय है। वह निरन्तर इस डरमें रहता है कि कहीं उसके किसी कार्यसे उस पर देवताओंका प्रकोप न हो जाये। एकरूपता और स्थिरता समझमें आती और उसकी आशा की जाती है। नये और विभिन्न पर भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका पहलेसे निरुपण नहीं किया जा सकता अतः वह त्राससे परिपूर्ण है। प्रचलित, जो कि हमेशासे किया गया है, उसमें सुरक्षा है। अतः आचारके लिए सम्मान और नवीनताके लिए भय। इसीलिए प्राचीन-स्थितिका मनुष्य अपने आचारोंमें पवित्रताका वायुमंडल बना लेता है और उसके थोड़े भी उल्लंघनके लिए बड़ा कड़ा दण्ड देता है जब दैविक आज्ञप्ति (divine sanction) से काम नहीं चलता तो वह दूसरी आज्ञप्ति ढूंढ लेता है, और यहां तक कि प्राचीन और परिचितके शासत के लिए मिथ्या-वैज्ञानिक समर्थन भी खोज लेता है। बेजहॉट कहते हैं कि 'मनुष्य प्रकृतिका सबसे बड़ा कष्ट नये विचारका कष्ट है। जैसे कि साधारण जन कहते हैं कि इससे कितनी 'परेशानी' है, यह तुम्हें सोचनेका अवसर देता है कि शायद तुम्हारे प्रिय विचार ग़लत और तुम्हारे अत्यधिक दृढ़ विश्वासोंके आधार बुरे हों।" यहां तक कि जब परिवर्त्तन प्रारंभ कर भी दिये जाते हैं, उनका पुराने आचारोंके वेशमें आना ही उनकी सफलताकी अकेली संभावना हैं। प्राचीन विधि (law) की ऐसी बहुत सी कल्पित कथाओंकी ओर मेन (Maine) ने ध्यान आकृष्ट कराया है, और घरके निकटसे ही अनेकों उदाहरण दिये जा सकते थे। उसी धारणाका उदाहरण

इस बातमें मिल सकता है कि बहुतसे आचार उनके मौलिक कारणोंके समाप्त हो जानेके बहुत बाद तक भी प्रचलित रहते हैं। तब बहुत सी स्थितियोंमें उनका कारण बतानेके लिए बहुत प्रयत्नपूर्वक युक्तियोंका आविष्कार होता है और वह उनके कारण बताये जाते हैं जिनका मौलिक सार्थकतासे बहुत थोड़ा या बिल्कुल भी मतलब नहीं है। एन्ड्रयू लैंग (Andrew Lang) ने बताया है कि विशेष आचारोंका कारण बतानेके लिए कथाओंका आविष्कार किया जाता है।

आचार और विधि. धर्मशास्त्र (jurisprudence) के ऐतिहासिक सम्प्रदायने आचार और विधिके बीचके सम्बन्धपर बहुत जोर दिया है। प्राचीन स्थितिके लोगोंमें निश्चय ही आचार विधिके स्थान पर स्थित है। वेस्टर मार्क (Westermarck) बताते हैं कि प्रायः विधिकी भांतिकी अपेक्षा, विधिको आचारकी भांति अधिक माना जाता है। विधिके साथ प्रतियोगितामें आचार विजयी प्रायः होता है, और जब आचार विधिको रद्द नहीं कर सकता है तब यह विधिके विधान (execution) को शक्ति-हीन कर देता है, भारतमें बाल विवाहके प्रति धारणाकी इससे तुलना करो। और इसी प्रकार, विधिके विरुद्ध, कुछ योरोपियन देशोंमें मृत्यु दंड कार्य रूप में परिणत नहीं किया जाता। आचार बन्धन-प्रकृति ((obligatory) में विधिके समान है, और इस बातमें कि विधिकी तरह, यह केवल बाह्यसे व्यवहार कर सकता है, और आन्तरिक प्रेरकों पर ध्यान नहीं दे सकता। विधिसे इसकी समानता करने पर यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि आचार केवल यांत्रिक पुनरावृत्तियोंके कारण नहीं हो सकते, वरन् वास्तव में निर्णय प्रदर्शित करता है, चाहे कितने ही प्रारंभिक अस्पष्ट हों। देखिये (Vinogradoff, "Common sense in Law", Ch. on "Custom")।

आचार नीति, नीति आदि सब नीति और आचारके बीचके निकट सम्बन्ध निर्दिष्ट करते हैं, नीतिका विकास ऐतिहासिक दृष्टिसे, इस बातमें होता है कि आचरणका एक विवेकमय आधार ढूंढा जाये, आचारके द्वारा व्यवस्थित आचरणके नियमोंकी आलोचना और यदि आवश्यक हो तो उनका पुनर्निर्माण किया जाये, यह बतानेकी विशेष आवश्यकता नहीं है कि यह

प्रणाली अभी पूर्णतासे दूर है और हमारी अधिकांश वर्तमान नीति केवल रूढ़ि और आचारविधि सम्बन्धी (traditional and conventional) है और अभी तक विचारकी अवस्था तक नहीं पहुंची है। वेस्टरमार्क बताते हैं कि कार्यकी लौकिक विधियोंका अस्तित्व हो सकता है अर्थात् वह कार्य जो सामान्यतया प्रचलित हैं और जो अभी भी नैतिक दृष्टिसे निन्दनीय हैं। परन्तु इन उदाहरणोंमें यह सन्देहजनक है कि नैतिक निन्दा या अस्वीकृति गहन और सच्ची है : जिससे आचार लोगोंके वास्तविक नैतिक ज्ञानकी बहुत अच्छी पहचान है। फिर भी नीतिके सारे क्षेत्रको आचार आच्छादित नहीं करता क्योंकि विधिकी भांति, यह केवल बाह्यसे व्यवहार करता है।

उपरोक्तसे यह पता चलता है कि आचार और विधि दोनों एक प्रकार से जातिके बढ़ते हुए नैतिक ज्ञानके प्रदर्शन हैं। यह बात राष्ट्रीय मस्तिष्क या आत्माके सिद्धान्तके समर्थनमें प्रयोग की गई है। विशेषकर विधिके सम्बन्धमें ऐतिहासिक सम्प्रदाय यह मानता है कि विविध लोगोंकी उस प्रतिभाकी उत्पत्ति है जो अपने लोगोंके सब सदस्योंमें प्रकाशित कर रही है, और विधायक (lagislator) की विचारपूर्ण इच्छाके कारण नहीं है। विधायकका काम इस दृष्टिसे नये नियम बनाना नहीं है, वरन् विधि सम्बन्धी चेतनाकी एक जीवित अवस्थाको घोषित करना है। धर्मशास्त्रका ऐतिहासिक सम्प्रदाय रोमांटिक (romantic) आंदोलनका एक प्रकाशन था और अठारहवीं शताब्दीके बुद्धिवादकी विरोधी प्रतिक्रियासे अधिकतर विकसित हुआ। परन्तु **राष्ट्रीय आत्मा** (Volksgeist) के विचारको इस सम्प्रदायके लेखकोंने एक अस्पष्ट और अमूर्त प्रकारसे समझा और किसी भी स्थितिमें यह एक उपजाऊ विचार नहीं सिद्ध हुआ। जहां तक इसका सम्बन्धत विधिके इतिहाससे है। सेविग्नी (Savigny) का एक शिष्य, जो इस सम्प्रदायका जन्मदाता था (Pushta 1798-1846) निश्चय ही लौकिक मस्तिष्कको व्यक्तित्व देता है और इसे व्यक्तिगत चेतनासे स्वतंत्र सत्ताकी भांति मानता है। यह लोगोंके साहित्यिक जीवन तक उत्पत्ति नहीं है, परन्तु एक राष्ट्रवासियोंके इतिहास और आचार दोनोंको निर्धारित करती है। यह स्पष्ट होना चाहिए कि व्याख्याके नियमकी भांति, ऐसा

विचार सहायक नहीं हो सकता, और इसका परिणाम बहुत चक्करदार तर्क होंगे; एक राष्ट्रवासियोंकी आत्मा इसके प्रकाशनोंके द्वारा ही जानी जा सकती है, तथापि प्रदर्शन आत्माके द्वारा किये जाते हैं। आगे यह ध्यान देना चाहिए कि अधिकांश स्थितियोंमें एक राष्ट्रवासियोंकी आत्माको व्यक्तित्व या पदार्थका रूप देनेसे इस सम्प्रदाय वाले इस बात पर आ जाते हैं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विधियोंको न्याय न माने क्योंकि यद्यपि राष्ट्रीय आत्मा कहलाने वाली जैसी तो कोई चीज़ हैं, परन्तु ऐसी कोई चीज़ नहीं है जैसे मनुष्य जाति की आत्मा, अतः कोई ऐसी विधि नहीं हो सकती जो सम्पूर्ण मष्नुय जातिको आत्मा, अतः कोई ऐसी विधि नहीं हो सकती जो सम्पूर्ण मनुष्य जातिको सम्बद्ध कर सके। सम्पूर्ण आंदोलन पर प्रोफ़ेसर विनोग्राडॉफ़ * (Vinogradoff) के अधिकार पूर्ण वक्तव्यको उद्धृत करना कदाचित् ठीक होगा, "रोमांटिक सिद्धांतकी गहन राष्ट्रीयता विवेचक, परीक्षण और वैज्ञानिक उन्नतिकी परीक्षाको नहीं सहन कर सकी। राष्ट्र किन्हीं अर्थोंमें जीवित सत्ताएं हैं। परन्तु उन्हीं अर्थोंमें नहीं जिनमें व्यक्ति जीवित सत्ता हैं। वह अपने विकासमें दृढ़ स्वरूपोंके द्वारा उस सीमा तक परिमित नहीं हैं, वह परिस्थितियोंके विरूद्ध अधिक स्वतंत्रतासे प्रतिक्रिया करते हैं और अनुकूलता की विस्तृत श्रेणी उनके अधिकारमें है···इहेरिंग (Ihering) ने दिखाया है कि विधिकी उन्नति केवल उस अचेतन उन्नतिका फल नहीं है जो आन्तरिक चरित्र और वातावरणके कारण होती है। परन्तु सामाजिक अस्तित्वकी समस्याओंको हल करनेके चेतन प्रवासका भी परिणाम है। जब कि प्रारंभिक कालमें विधि सम्बन्धी नियम भाषा और कथाओंकी भांति न्यूनाधिक आंगिक रूपसे (organically) बढ़े, पिछली अवस्थाओंकी विशेषता सार्वलौकिक है, जैसे कि यह अकर्तृक (impersonal) प्रत्यय हों, जो कि प्रामाणिक सिक्कोंकी भांति दुनियामें बिना कठिनाईके प्रचलित रहते हैं।"

कुछ हद तक धर्मशास्त्रका ऐतिहासिक सम्प्रदाय हीगेलसे प्रभावित हुआ था। परन्तु यह सिद्धान्त, विशेषकर, जो रूप इसके अंग्रेज़ अनुसरण कर्त्ताओंने दिया है, इस प्रकारसे कहा जा सकता है जो प्रो० विनोग्राडॉफ़से

---

* "Historical Jurisprudence", Vol. I, P, 134.

उद्धृत कथनके बिल्कुल अनुरूप होगा। इस मतके अनुसार सामान्येच्छा आवश्यक रूपसे विवेकमय है, बल्कि यह यथार्थमें विवेकमय इच्छाके सदृश है, और विधिको इस इच्छाका प्रकाशन माना जाता है। अब एक अर्थमेंयह सत्य है, क्योंकि विधि और आचार धीरे-धीरे विकसित होनेवाले उचित और अनुचित ज्ञानका समावेश करते हैं। परन्तु राष्ट्रवासियोंकी इच्छाको एक अकेली और ऐकिक सत्ता मानना भ्रान्ति मालूम होता है। यथार्थ विधियां अन्तर्क्रिया करते हुए अनेकों मस्तिष्कोंका परिणाम है और उनमें विवेकके तत्वकी अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए। जो वास्तवमें सामान्येच्छाके प्रदर्शनकी भांति विधिके सिद्धान्तके पीछे है वह है बन्धन (obligation) की यथार्थताका कारण बतानेकी कठिनाई। यह तर्क करना प्राकृतिक मालूम होता है कि एक व्यक्तिकी यह भावना कि विधिके पालनके लिए वह बाध्य है, इसको यह दिखाकर समझाया जा सकता है कि वह स्वयं वास्तव में विधिकी इच्छा करता है, यद्यपि यथार्थमें उस क्षण वह उसे बुरा लग जाता है, और यह कि वह सामान्यतया विधिकी आवश्यकता को मानता है, यद्यपि यह उसे अपने लिए कठिन लगता है। परन्तु यहां वास्तवमें दो समस्याएं मिला दी गई हैं। हमें स्पष्टतया बन्धन (obligation) के न्याय या तार्किक आधारकी समस्याको अवश्य अलग करना चाहिए। मनोवैज्ञानिक इतिहासकी दृष्टिसे पहली समस्या सम्भवतया अधिकतर इस बातके कारण है कि विधि और आचार व्यक्तिके पास बाहरसे आते हैं और अपने साथ जातिकी प्रतिष्ठा लाते हैं यह माना जाता है कि वह जातिकी इच्छा प्रगट करते हैं। परन्तु बन्धन (obligation) का तार्किक आधार केवल इच्छा करनेमें नहीं मिल सकता, चाहे जाति हो या व्यक्ति। केवल यही बात कि जाति इच्छा करती है या यह कि मैं इच्छा करता हूं कि कोई बात होनी चाहिए, यह कोई कारण नहीं कि ऐसा होना ही चाहिए। केवल मनोवैज्ञानिक तथ्यकी भांति बन्धन इच्छितमें नहीं रह सकता। इसका आधार विवेकसे निश्चित होने योग्य, उद्देश्यपूर्ण नैतिक क्रममें अवश्य होना चाहिए, परन्तु ऐसा उद्देश्यपूर्ण नैतिक क्रम किसी भी अर्थमें इच्छित पर उससे अधिक आश्रित नहीं है जितना कि एक ज्ञात पदार्थ अपने ज्ञात होने में रहता है निश्चय ही यथार्थ विधि, इस उद्देश्यपूर्ण नैतिक क्रमके निकट ही

आती है। विधिकी बहुत सी पद्धतियोंमें ऐसे तत्व हैं जिनको माननेमें यद्यपि यथार्थमें लोग बन्धनका अनुभव करते हैं परन्तु विवेककी दृष्टिसे वह न्याय्य नहीं हैं अत: सामान्येच्छाका सिद्धान्त वास्तवमें यथार्थताको छिपाता है, और फिर सामान्यतया ऐतिहासिक सम्प्रदायके सिद्धान्तकी भांति इस पर आक्षेप भी हो सकता है कि यह अपनेको संकुचित और अनन्य राष्ट्रीयताकी ओर झुकाती है। जैसा कि हमने देखा है यह आवश्यक रूपसे स्थिति पालक है और यथा स्थिति (status quo) के गुणमानकी ओर प्रवृत्त है। परन्तु विधि का ऐतिहासिक विकास और इसका आचारनीतिक औचित्य दोनोंको ऐसे शब्दोंमें कहा जा सकता है जो सामान्येच्छाको ऐकिक सत्ताके अर्थमें उपलक्षित नहीं करते। हम डुगित * (Duguit) के साथ कह सकते हैं कि "सब इच्छाएं व्यक्तिगत इच्छाएं हैं, सब मूल्यमें बराबर हैं, इच्छाओंका कोई उतार चढ़ावका क्रम (hierarchy) नहीं है। यदि कोई केवल विषय पर विचार करे तो सब इच्छाएं बराबर हैं। जिन उद्देश्योंका वह अनुसरण करती हैं उनसे उनका मूल्य निश्चित किया जा सकता है। शासकोंकी इच्छामें इस प्रकार कोई शक्ति नहीं है। इसमें मूल्य केवल उस सीमा तक ही है कि यह सार्वजनिक सेवाके कार्य और संगठन को बनाती है।"

---

* "Law and The State", P. 148.

अध्याय ८

जाति, मंडल और संस्थाएं

जातिकी प्रकृतिकी समस्या आचारनीति, समाज विज्ञान, धर्मशास्त्र, राजनीति, और दर्शनमें मौलिक प्रश्न उठा देती है, अतः बहुत जटिल है। व्यक्ति और समाजमें क्या सम्बन्ध है? जाति क्या है? क्या केवल एक संग्रह है या इसमें एक ऐसी एकता है जिसकी तुलना किसी जीवधारी या व्यक्ति से की जा सकती है? जातिके अन्दर सामाजिक समूहोंकी क्या प्रकृति है, या सम्पूर्णसे उनका क्या सम्बन्ध है? क्या जातिके अपने उद्देश्य होते हैं या इसको बनाने वाले व्यक्तियोंके उद्देश्योंकी केवल सिद्धिको सम्भव करने के लिए इसका अस्तित्व है? इस विरोधका कोई वास्तविक तात्पर्य है या कदाचित् क्या यह विचारोंके कृत्रिम एकीकरण पर आश्रित है? यह और अन्य प्रश्न एक उत्तर प्राप्त करनेके लिए दबाव डालते हैं, विशेषकर आजकल जातिके अन्दर उन प्रबल समूहोंके बन जानेसे जो कि राज्यकी अनन्त शक्ति और सामर्थ्यको ललकार रहे हैं, और सामान्य जातिसे अपने सम्बन्धोंको फिरसे क्रमबद्ध करनेको दृढ़तापूर्वक कह रहे हैं। इनमेंसे अधिकांश समस्याएं जातिकी प्रकृतिके प्रश्नको केन्द्रित करती हैं। उस प्रश्न के अनेकों उत्तर दिये गये हैं, परन्तु अभी हाल तक सामाजिक वास्तविकता की प्रकृति सम्बन्धी प्रचलित सिद्धान्त आंगिक (organic) सिद्धान्त रहा है। यह सम्बोधना जिन विभिन्न तरीक़ोंमें कार्यान्वित हुई है, हमें यहां उनके विस्तृत वर्णनकी आवश्यकता नहीं है और न फिर उन किनारों तक जाना है जहां तक कुछ लेखकोंने जाति और जीवधारीके बीचकी तुलना खींची है। इस सिद्धान्तसे, इसके सर्वोत्तम रूपमें, कुछ आवश्यक बातें निकलती हैं, जिन्हें संक्षेपमें कहा जा सकता है। पहले तो, यह सिद्धान्त, ठीक ही इस बात पर जोर देता है कि समाज़में व्यक्ति आवश्यक और

स्वाभाविक रूपसे सम्बद्ध हैं और सामाजिक सम्पूर्ण उनके अन्त: सम्बन्धोंसे बना हुआ है। इस सम्बन्धमें समाज आंगिक (organic) है, इस अर्थमें नहीं कि यह पशु या साग-सब्ज़ीके समान है, वरन् इस अर्थमें कि यह आंगिक के विस्तृत अर्थमें परिभाषाको सन्तुष्ट करता है, जिसमें है एक "पूर्ण, जो अंगोंके अन्त: सम्बन्धसे बना है और अन्य अंग स्वयं दूसरे अंगोंसे अन्त:सम्बन्ध के द्वारा रहते हैं" (Hobhouse)। दूसरे, इस सिद्धान्तने इस बात पर ठीक ही ज़ोर दिया है कि जाति एक यांत्रिक या कृत्रिम उपाय या बनावट नहीं है, वरन् एक जीवित वस्तु और एक प्राकृतिक उत्पत्ति है। इस सम्बन्धमें भी, समाज वास्तवमें अन्य जीवधारियोंके समान नहीं है, क्योंकि वह न तो बढ़ते और नई उत्पत्ति करते हैं और न जीवधारियोंकी भांति मरते हैं। फिर भी वह वातावरणकी अनुकूलता और व्यवस्था (adjustment) के लचीलेपन (plasticity) में कुछ चेतनायुक्त चरित्र सा प्रदर्शित करते हैं और निश्चय ही वह यांत्रिक या आकस्मिक समुदाय नहीं हैं। तीसरे यह चेतनायुक्त सिद्धान्तसे पता चला कि समाजमें मौलिक और अचानक रूपान्तर कठिन होते हैं,* और यह कि सामाजिक प्रश्नोंमें अकेले पर विचार करना आपत्तिजनक है—और सामाजिक मामलोंका अन्त: सम्बन्ध इतना निकट है कि सामाजिक समस्याके किसी भी अंग पर शेषको प्रभावित किये बिना विचार नहीं किया जा सकता आंगिक सिद्धान्त में यह मूल्यके तत्व हैं, परन्तु इसकी आपत्ति इस बातमें है कि यह लोगोंको यथार्थ जातियोंकी एकताकी अतिशयोक्ति करनेकी ओर प्रवृत्त करता है, जो कि विभिन्न मात्राओंमें आंगिक (organic) के समान है। केवल ऐसा ही नहीं, वरन् बहुत अधिक उन्नत जातियोंको लेकर भी व्यक्तिके जातिसे सम्बन्धको आंगिक सिद्धान्त ठीकसे प्रदर्शित नहीं करता। जाति बहुत जटिल है और एकताके अन्दर एकता, समूहके अन्दर समूह, अनेक प्रकारसे इसमें होते हैं, और विभिन्न स्थितियोंमें व्यक्ति और समूहके सम्बन्ध विभिन्न होते हैं, उन रुचियोंके अनुसार जिनका वह प्रतिनिधित्व करते हैं। और फिर

---

* यह ध्यान दीजिये कि कुछ लोगोंने क्रान्तिको न्याय्य बतानेके लिए परिवर्तनके सिद्धान्तका प्रयोग किया था।

आंगिक सिद्धान्त संघर्ष और प्रतिकूलता (disharmory) के तत्वोंकी, जो कि जातिमें भरे पड़े हैं, अवहेलना करते हैं। एक अर्थमें वहां एक साधारण जीवन हैं और जाति अपनेको सम्पूर्णकी भांति रखनेकी चेष्टा करती है, परन्तु जो एकता मिलती है यह प्राय: जीवन शक्तिकी फूटके द्वारा नहीं वरन् यांत्रिक अवरोध (suppression) और विरोध (repression) के द्वारा, और "जातीय जीवन" से यथार्थमें अर्थ हो सकता है इसके एक बहुत छोटे प्रभावशाली भागका जीवन। सबके ऊपर, आंगिक सिद्धान्त इस बातको छिपाता है कि व्यक्ति जातिसे सम्बद्ध होता हुआ भी जाति सम्बन्धित व्यक्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं है—उन सम्बन्धों में श्रान्त नहीं होता और यह कि वह ऐसी चेतनाका एक अद्वितीय केन्द्र है जो कि सम्पूर्णके जीवनसे मिश्रित नहीं है।

आंगिक (organic) सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक शब्दोंमें भी प्रकाशित किया गया है। अर्थात् जातिका मस्तिष्क या व्यक्तिकी तरह वर्णन किया गया है। पिछले सिद्धान्त पर विवाद किया जा चुका है और हम इसे अनुचित और मिथ्याबोध कराने वाला मानकर त्यागनेका कारण देख चुके हैं। मौलिक रूपसे, जातिको व्यक्तिसे अधिक मानने वाले सब सिद्धान्तों पर यह आक्षेप हो सकता है कि बिना जाने वह जातिमें व्यक्तित्व डालनेकी ओर प्रवृत्त होते हैं और इसके जीवनको इसके सदस्योंके परस्पर सम्बद्ध जीवनसे अलग मानते हैं और इस पर उन उद्देश्योंका आरोपण करते हैं जो इसको बनाने वाले व्यक्तियोंके उद्देश्य नहीं हैं। हम निश्चय ही समूहों और जातियों पर व्यक्त्वित्वका आरोपण इस अर्थमें करते हैं कि वह हममें वह रुचि और संवेग जागृत करते हैं जो उन रुचियों और संवेगोंके सदृश हैं जो व्यक्ति हममें जागृत करते हैं। और फिर विधि सम्बन्धी और नैतिक प्रयोजनोंके लिए समूह प्राय: व्यक्ति या कर्त्तव्य और अधिकारके कर्त्ताकी भांति माने जाते हैं। परन्तु इन बातोंसे कोई वास्तविक सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं उपस्थित होती। यह नहीं समझमें आता कि सामूहिक संस्थाएं अपने कार्योंके लिए उत्तरदायी होना या रुचि और संवेग जागृत करना क्यों बन्द कर देती हैं। जातिके उद्देश्योंकी समस्या अधिक कठिन है, यदि हम उसको बनाने वाले व्यक्तियोंके उद्देश्योंसे उसकी तुलना करें। सब मूल्य व्यक्तियोंके लिए

मूल्य हैं और उनमें व्यक्तित्वके लिए कुछ स्वाभाविक अवश्य होना चाहिए। परन्तु अवश्य ही व्यक्तित्वकी रुचियां चरित्रमें अधिकतर सामाजिक हैं, और व्यक्तिका ठीकसे समझा हुआ लाभ समाजका लाभ अवश्य ही ऐसा होना चाहिए जो उसको बनाने वाले व्यक्तियोंके द्वारा सिद्ध या प्राप्त हैं, दूसरी ओर व्यक्तियोंको उद्देश्योंके लिए आवश्यक है कि वह समाजके सब व्यक्तियों के अनुरूप विकासको सम्मिलित करें, क्योंकि आचारनीतिकी दृष्टिसे यह उद्देश्य आवश्यक रूपमें चरित्रमें सामाजिक है। कुछ भी हो, यह बात आचारनीतिमें कठिन समस्याएं खड़ी कर देती है, जिन पर यहां विवाद नहीं किया जा सकता। हम आंगिक सिद्धान्तसे यह अवश्य सीखते हैं कि व्यक्तियों के बीचके सम्बन्ध उनके व्यक्तित्वके लिए आवश्यक और स्वाभाविक हैं, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सम्बन्ध अनेक प्रकारके हैं, और वह सब समान रूपसे अत्यावश्यक नहीं हैं, और उनमें संघर्ष तथा अनुरूपता दोनोंके तत्व हैं। जाति केवल एक संग्रह नहीं है, और न यह एक मस्तिष्क या व्यक्ति है। इसमें एकताकी ओर एक प्रयत्न है, परन्तु एकता जब प्राप्त कर ली जाती है तब भी एक व्यक्ति या जीवधारीमें अपने अंगसे अंगको बांधने वाले सम्बन्धोंके शब्दोंमें भी इसका वर्णन ठीकसे नहीं किया जा सकता, परन्तु यह एक अधिक जटिल प्रकारकी अपेक्षाकृत एकता होगी।

इस विषयके हालके विवरणोंमें हमारे समाज-सम्बन्धी सिद्धान्तको स्पष्ट करनेमें महत्वशाली लेख, पुस्तकें आदि लिखि गई हैं, और प्रसंगवश वैज्ञानिक शब्दावलीके सम्बन्धमें भी।* जाति और मंडलों (associations) तथा संस्थाओंके बीच ठीक सम्बन्ध निर्धारित करना आवश्यक है। जातिसे यह समझना चाहिए कि वह एक साधारण जीवन व्यतीत करने वाले सामाजिक प्राणियोंका समूह है, जिसमें साधारण जीवनमें फलित होने वाले या उसे बनाने वाले सम्बन्धोंकी सब जटिलता और अनन्त विभिन्नता सम्मिलित है। यह स्पष्ट है कि मनुष्योंमें ऐसे बहुतसे सम्बन्ध हैं जो नियमनिष्ठ संगठनसे बचे रहते हैं, या तो इसलिए कि वह इतने सूक्ष्म और

---

* देखिये MacIver, "Community," and G.D.N. Cole, "Social Theory."

कोमल हैं कि वह प्रबन्धकी न्यूनाधिक यांत्रिक विधियोंके अन्दर सीमित नहीं रह सकते या वह इतने सरल हैं कि उनको इसकी आवश्कता नहीं। यह सम्बन्ध चरित्रमें आत्मिक हैं, परन्तु वह इतने विभिन्न और प्रचुर हैं, एक ओर झुकने वाले साथ ही अलग होने वाले भी, कि वह एकता नहीं बनाते, फिर जतिमें भी व्यक्ति श्रान्त नहीं होता। यद्यपि उसे अपने विकासके लिए इसकी आवश्यकता है और उसके सामाजिक आन्तरिक तत्वों (content) का अधिकांश पदार्थमें उसके दूसरोंके साथ सम्बन्धों, उसके स्नेह, रुचि और अरुचि, उसके कर्त्तव्य और बन्धनोंसे बना है, तब भी उसमें प्राणीका एक ऐसा अन्तर्भाग (core) है जो अद्वितीय और अवर्णनीय है। यद्यपि वह इन सम्बन्धोंमें प्रवेश करता है, परन्तु इनमें श्रान्त नहीं होता।

मंडलसे हमारा तात्पर्य सामाजिक प्राणियोंके उस समूहसे है जो एक दूसरेसे इस बातके द्वारा सम्बद्ध हैं कि उनमें या तो एक साधारण संगठन है या उन्होंने साधारणमें एक संगठन स्थापित किया है, जिसका उद्देश्य एक विशेष या अनेक उद्देश्य प्राप्त करना है।

मंडल जातिके खंड रूप हैं। जब कि जाति मनुष्योंकेसब सम्बन्धों और रुचियोंको सम्मिलत करती हैं, चाहे वह संगठित हो या न हो, मंडल विशेष प्रयोजनों पर आश्रित रहते हैं, उनका अस्तित्व किसी निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके लिए होता है। जिन प्रयोजनोंके लिए उनका अस्तित्व है उसकी सीमा, विस्तार और स्थिरताके अनुसार वह भी सीमा, विस्तार और स्थिरतामें परिवर्तित होते रहते है। यह उपलक्षित करनेका तात्पर्य नहीं है कि सब मंडल जान बूझकर बनाये गये हैं और एक चेतना प्रयोजन पर आश्रित हैं। स्पष्टतया यह बात नहीं है। प्राय: वह परिस्थतियोंकी अस्पष्ट रूपसे अनुभूत आवश्यकताओं और दबावके कारण बन जाती हैं और कदाचित् बिना अपना वास्तविक प्रयोजन जाने हुए ही बहुत काल तक अपना मार्ग अन्धकारमें ढूंढते रहते हैं, परन्तु प्रकृतिमें वह सब प्रयोजनपूर्ण हैं, अर्थात् जिस उद्देश्यको वह बढ़ाते हैं, उसके बिना वह समझी नहीं जा सकती यद्यपि हो सकता है कि वह उद्देश्य मंडलके सब या अधिकांश सदस्यों के द्वारा पूर्णतया सिद्ध न किया जा सके।

संस्थाएं किसी बाह्य पदार्थ या परस्पर सम्बन्धित सामाजिक प्राणियों

के निश्चित और आज्ञप्ति सम्बन्धोंके रूप या विधि हैं। जैसा कि हमने देखा है, मंडल संगठनको उपलक्षित करते और उन पर आश्रित होते हैं। यदि एक साधारण कामको बहुतसे व्यक्ति सहकारिता सहित करें, तो श्रम विभाजन, कार्य प्रणाली आदिके नियम अवश्य होने चाहिए। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियोंके सम्बन्ध स्पष्ट होने चाहिए, और उन्हें एक साधारण आज्ञप्ति प्राप्त करनी चाहिए। जब भी मंडलमें कार्य स्थिरता होती है वह अत्यावश्यक महत्वके उद्देश्यों पर आश्रित होती है तभी ऐसा होता है। इस प्रकार आचार और विधि, कार्य प्रणालीके नियम, और कार्य पद्धतियां, जिन्हें हम संस्थाएं कहते हैं, बनती हैं। मंडल जीवित वस्तुएं हैं और साधारण उद्देश्योंके लिए एक साथ काम करते हुए व्यक्तियोंसे बने होते हैं; संस्थाओं को उनके बीचके सम्बन्धोंके रूप और समाजसे आज्ञप्ति उनकी कार्यविधियां मानना अच्छा होगा। संस्थाओं और मंडलोंको प्राय: एक ही समझ लिया जाता है, परन्तु स्पष्टताके लिए दोनों शब्दोंको पृथक् रखना सहायक होगा। हम प्राय: इमारतको संस्था कह देते हैं, परन्तु इन स्थितियोंमें हमारा वास्तविक तात्पर्य संस्थाकी बाह्य मूर्तिमत्ता या साधनका संकेत करना होता है।

मंडल संस्थाओंको बनाते और जीवित रखते हैं, जब कि संस्थाएं इसके बदलेमें मंडलों पर प्रतिक्रिया करती हैं। कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी होते हैं जहां संस्थाएं मंडलोंको बनाती हुई मालूम होती हैं, जैसे युद्धके कारण सेनाका बनना (Hetherington and Muirhead), परन्तु इनमें अधिक खोज करनेकी आवश्यकता है। युद्ध इस अर्थमें संस्था है कि यह उन मंडलोंके बीच जिन्हें हम राज्य कहते हैं किसी विशेष प्रकृतिके झगड़ोंको सुलझानेके लिए मानी हुई विधि है। वास्तवमें यह मंडल हैं जो सेना बनाते हैं अर्थात् अधिक सीमित मंडल जिससे युद्धमें प्रवेश करनेके उद्देश्य प्राप्त कर लिये जायें। संस्थाएं सदा सामाजिक सम्बन्धोंके निश्चित रूप हैं—परन्तु कभी तो वह स्पष्टतया निश्चित मंडलोंसे तत्क्षण सम्बद्ध होती हैं और दूसरे समय वह किसी सामान्य मंडलसे सम्बद्ध सामाजिक व्यवहारके किसी रूपमें समाविष्ट होती हैं।*

---

* यह ध्यान देना चाहिए कि संस्थाएं जाति और मंडल दोनोंकी शाखा हैं।

मंडलों और संस्थाओंमें सदा चरित्र होता है, चाहे वह निश्चित इच्छित कार्यके द्वारा न बने हों तब भी जैसा कि प्रो० वसांक्वे* ने ज़ोर दिया है कि वह ऐसे लगते हैं जैसे कि वह किसी प्रयोजन पूर्तिके लिए बनाये गये हों। अतः संस्थाओंको इच्छाओंका मिलन स्थान, प्रत्यक्षरूपमें उपस्थित प्रयोजन, और बाह्यरूपमें एक उद्देश्यकी मूर्तिमत्ता जिसे व्यक्तियोंके एक समूहने अपने लिए प्रस्तावित किया है, कहा गया है। इसकी गुण विशिष्टता बताने में सावधानीकी आवश्यकता है। पहले तो, यद्यपि संस्थाओंको केवल मीमांसा (tileology) की दृष्टिसे ही समझा जा सकता है, परन्तु हमें उनको बनाये रखने वाले मंडलोंके व्यक्तियों या सम्पूर्ण मंडलोंके लिए उससे अधिक स्पष्ट और चेतन प्रयोजन नहीं समझना चाहिए जितना कि हम क्रियात्मक व्यवहारके योग्य निम्नजातिके पशुओंमें चेतन प्रयोजन समझ सकते हैं। दूसरे हमें प्रयोजनकी एकता मान लेनेका भी अधिकार नहीं है। संस्थाएं वह तरीक़े हैं जिन्हें समाजने कुछ आवश्यकताओंके पूरक और मंडलों को अपनी सत्ता बनाये रखनेके योग्य बनाने वाले और सहकारिता प्राप्त करने वाले मान लिया है। अतः सब संस्थाओंमें एक सामाजिक तत्व होता है, परन्तु यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि संस्थाएं कभी अकेले मस्तिष्क का परिणाम नहीं हैं और उनमें स्पष्टतया समझे हुए विवेकमय प्रयोजन नहीं होते। वह बहुतसे मस्तिष्कोंकी मिलन स्थान और विचार तथा विचार, इच्छा तथा इच्छाके संघर्षका परिणाम हैं। और अतः अपने अन्दर स्वार्थ, अहंकार, क्रूरता और साथ ही आत्म बलिदान, भक्ति और मानुषिक दयालुताके तत्व रखती हैं। अतः संस्थाओंके विवेकमय तत्वकी अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए, और यह बहुत आवश्यक बात है कि उनमें वास्तवमें किन प्रयोजनोंका समावेश है तथा उनके प्रयोजन हमारी भक्ति और शक्ति के योग्य हैं या नहीं, इस बातको निश्चित करनेके लिए उनकी आलोचना अवश्य होनी चाहिए। युद्ध एक संस्था है परन्तु इस बातको दृढ़तासे कहने वाला बहुत साहसी व्यक्ति होगा जो कहेगा कि यह एक विवेकमय प्रयोजन और आचारनीतिक आदर्शकी मूर्तिमत्ता है। या वर्त्तमान वेतन पद्धतिको

---

* "Philosophical Theory of the State," P. 297

सोचो यह दासप्रथाके समाप्त होने पर आई, परन्तु जो प्रयोजन यह पूर्ण करती है वह अनुरूप नहीं हैं, और कभी स्पष्टतया सोचे नहीं गये हैं। यही बात किसी अन्य जटिल संस्थाके सम्बन्धमें भी सत्य है। और एक संस्थाके आधारके प्रयोजन अधिकांश स्थितियोंमें इसके सब सदस्योंके लिए एक ही नहीं होते। वेतन पद्धतिकी संस्थाका अर्थ एक कारखानेमें काम करने वाले के लिए वही नहीं होता जो कारखानेके मालिकके लिए होता है, और न दासताकी संस्थाका दास और स्वामीके लिए।

तब संस्थाएं ऐकिक मस्तिष्ककी मूर्तिमत्ता नहीं हैं वरन् अन्तःक्रिया करते हुए हजारों मस्तिष्कोंका परिणाम हैं। वह स्पष्टतया समझे हुए प्रयोजनोंका समावेश नहीं करतीं, बल्कि प्रयत्न और भूलके प्रयोगोंकी भांति कहीं अधिक ठीकसे वर्णन की जाती हैं, जो कि रहनेकी विधि ढूंढनेके लिए व्यक्तिगत सामाजिक सत्ताओंके प्रयत्नोंके परिणाम स्वरूप अन्धकारमें ढूंढते हुए की भांति बढ़ती हैं। वह जब जीवनकी आवश्यकताओंको न्यूनाधिक प्राप्त करती हुई मालूम होती हैं तब उन्हें सामाजिक आज्ञप्ति मिल जाती है। विशेषकर यह ध्यान देना चाहिए कि जब एक दी हुई संस्थाओंके प्रति कुछ व्यक्तियोंके सम्बन्ध चेतन और जान बूझकर हैं, तब व्यक्तिगत मस्तिष्कोंका अन्तःसम्बन्ध और उनके विरोध और सहकारिताकी मात्राकी अत्यधिक उन्नत अवस्थाओंके अतिरिक्त, कोई स्पष्ट मस्तिष्क मार्ग दर्शक नहीं होता, और बहुत सी संस्थाओंके असंगत होनेका यही कारण बताया जाता है।

जब हम व्यक्ति और संस्थाओंके सम्बन्ध पर विचार करने लगते हैं तब यह विचार आवश्यक हैं।

(क) कभी-कभी यह माना जाता है कि सब संस्थाएं एक मृत-भार हैं, आत्माके स्वतंत्र विकासमें बाधा हैं, और वर्त्तमान जीवनके मंडलोंकी संख्या और जटिलता व्यक्तिको यंत्रके सदृश बना रही है। कदाचित् यह तर्क यंत्र-रचना और प्रयोजनके सम्बन्धके गड़बड़ विचारके कारण आधार पर है। मैं सोचता हूं कि यह दिखाया जा सकता है कि प्रयोजनपूर्ण कार्य यंत्र रचनाको अलग नहीं करता वरन् वह उस पर आश्रित होता है। कुछ भी हो, आलोचना वहां तक मूल्यवान् है कि यह हमें संस्थाओंके क्षय होने

और जीवन तत्वके खोनेकी प्रवृत्तिके विरुद्ध सावधान कर देती है।

(ख) कभी-कभी यह माना जाता है कि भौतिक (material) वस्तुओंसे सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं और उनके परिवर्त्तनोंका मानुषिक प्रवृत्ति पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और किसी भी सच्चे सुधारके लिए यह मानुषिक प्रवृत्ति है जिसे बदलना चाहिए। प्लेटोके साम्यवादके विरुद्ध अरस्तू के तर्ककी तुलना करो, "अवश्य ही बुराइयां राज्यको कुरूप कर देती हैं, परन्तु वह राज्यकी भांति, प्राकृतिक वस्तुओंसे उत्पन्न नहीं होती। यह बुराइयां मनुष्य प्रकृतिकी दुष्टताके कारण हैं। (११.५.१२.) यह सम्पत्ति नहीं वरन् मनुष्य जातिकी अभिलाषाएं हैं जिन्हें बराबर करनेकी आवश्यकता है। (११.७.८)" हमें आध्यात्मिक साधन जैसे शिक्षा, आचार और विधि, और दर्शनका प्रयोग करना चाहिए, और अरस्तू इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि प्लेटो जिसने शिक्षाको इतना महत्व दिया है, वह ऐसी व्यवस्थाका आलम्बन करे। (११.५,१५.) वास्तवमें आत्माको विषय (matter) से अलग नहीं किया जा सकता और जीवनके प्रकारों का स्वयं जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव होता है। संस्थाओंके अतिरिक्त, व्यक्ति केवल एक सम्भाव्यता रहेगा, और उसके विकासकी दिशा, तथा उसके मस्तिष्कके वास्तविक आन्तरिक तत्व (content) अधिकतर उसके सम्बन्धोंसे निर्धारित होती हैं। संस्थाओं और मानुषिक संभाव्यताओं का सम्बन्ध इस हद तक आंगिक (organic) है कि संभाव्यताओंकी सिद्धि का यथार्थरूप संस्थाओं पर आश्रित है।

(ग) इससे यह पता चलता है कि यह मानना बिल्कुल ग़लत है कि मनुष्यप्रकृति बदली नहीं जा सकती। बल्कि इसके विरुद्ध मनुष्य प्रकृति परिवर्त्तनशील है और अपने साकार प्रदर्शनोंमें सामाजिक परिस्थितियों और संस्थाओंके परिवर्तनोंके साथ परिवर्तित होती है। उन्हीं सहज स्वभावों के साथ विभिन्न परिस्थितियोंके अन्तर्गत लोग विभिन्न प्रकारसे व्यवहार करेंगे।* "कदाचित् एक डच का वही सहज स्वभाव है जो एक जर्मनका

* जन्मजात प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें परिवर्तनका प्रमाण बहुत कम है, परन्तु पैतृक प्रवृत्तियोंकी सिद्धिकी विधियोंके सम्बन्धमें मनृष्य प्रकृति परिवर्तनशील मालूम होती है।

परन्तु बड़ेपनमें डच की मूलप्रवृत्तियां बहुत भिन्न होंगी, क्योंकि उसमें सैनिक प्रवृत्ति और एक महान्शक्तिके गर्वका अभाव है। यह स्पष्ट है कि जिन्होंने विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली है उनकी मूलप्रवृत्तियां अन्य स्त्री पुरुषोंसे बिल्कुल भिन्न हो जाती हैं। जो विकास मूलप्रवृत्तिको मिलते हैं उनकी प्रकृतिके अनुसार इसके अनेक रूप हो सकते हैं। वही मूलप्रवृत्ति जो कला और बौद्धिक उत्पादनकी ओर बढ़ाती है, दूसरी परिस्थितियोंमें युद्धके प्रति अनुराग करा सकती है" (B. Runssel, "Principles of Social Reconstruction," P. 40)

यद्यपि इस प्रकार संस्थाएं मनुष्य विकासकी समस्त तत्व हैं और मनुष्य सम्भाव्यताओंसे आंगिक रूपमें (organically) सम्बद्ध हैं, तथापि इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि इस कारण उनसे व्यक्तिका सम्बन्ध भक्ति और अधीनताका होना चाहिए। यद्यपि मनुष्य जीवनके लिए संस्थाएं आवश्यक हैं, और जीवनकी आवश्यकताओंसे निकलती हैं, यह तर्क करना सुरक्षित नहीं है कि दी हुई संस्थाका कोई विशेष रूप व्यक्तित्वके लिए आवश्यक अतः पवित्र है। निजी सम्पत्ति, राज्य, धर्म, सेना, जल सेना आदिकी ओरसे इस पर जोर दिया गया है। निस्सन्देह वह किसी आवश्यकताकी प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होती हैं, परन्तु उत्पन्न होने पर उनमें परिवर्तनको रोकने और आलोचनाका बुरा मानने और इस प्रकार स्वतंत्र विकास और जीवनमें बाधक तथा कठोर होनेकी प्रवृत्ति आ जाती हैं। जिस मात्रामें वह व्यक्तित्वकी सिद्धिको सम्भव करती है उससे सब संस्थाओं पर विचार होना चाहिए, और उनकी प्रभावशाली आलोचना असम्भव है यदि हम यह मानकर प्रारम्भ करें कि जो रूप संस्थाओंका है, वह व्यक्तिके लिए आवश्यक है। इस प्रकार यद्यपि यह ठीकसे माना जा सकता है कि किसी रूपमें सम्पत्ति, या वस्तुओं पर न्यूनाधिक शासनकी शक्ति आत्मसिद्धिके लिए आवश्यक है, इस कारण यह नहीं मान लेना चाहिए कि सम्पत्तिका जो विशेषरूप आजकल प्रचलित है, वह आवश्यक है। वास्तवमें यह दिखाना सरल है कि निजी सम्पत्तिका वर्तमान रूप और विशेषकर धन प्रेम जिसे यह उत्साहित करती है, बहुतसे जीवनोंको संकुचित करता और उनके विकासमें बाधक होता है। समान प्रभावके बहुतसे

अन्य उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। फिर यदि हम संस्थाओंको जरा भी प्रत्यक्ष रूपमें उपस्थित प्रयोजन कहनेकी इच्छा करते हैं, तो हमें यह और जोड़ देना चाहिए कि यह प्रयोजन स्पष्टतया समझे हुए नहीं होते और यह कि वह प्रायः विरोधी और प्रतिरूप (inharmonious) होते हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं मंडलका अस्तित्व कुछ प्रयोजनोंको पूर्ण करना होता है और जितने विशिष्ट सामाजिक प्रयोजन होते हैं, उतने ही पृथक् मंडल होते हैं। प्रत्येक मंडल व्यक्ति और अतः जातिकी रुचिका कुछ भाग प्रदर्शित या समावेश करता है, परन्तु कुछ मंडल इस बातके कारण बहुत प्रभावशाली होते हैं, कि वह उन रुचियों पर आश्रित रहते हैं जो बहुत बड़ी जनसंख्याको प्रभावित करती हैं। सारे मंडल एक साथ या सम्पूर्ण मंडलमय (associational) रचनाका वर्णन समाज* कह कर किया जा सकता है। परन्तु समाज और जाति एक ही नहीं हैं क्योंकि जाति में वह सम्बन्ध सम्मिलित है जो मंडलों या संस्थाओंमें मूर्तिमान नहीं होता। अतः व्यक्ति और जातिका सम्बन्ध बहुत आवश्यक और निकट है। मंडलों से उसका सम्ब्रन्ध बदलता रहता है। यह हो सकता है कि डाकके टिकट इकट्ठा करने वालोंके मंडलमें प्रोफ़ेसर बिल्कुल भी रुचि न रखता हो, और चर्च ट्रेड यूनियन आदिमें उसकी अस्पष्ट रुचि हो। कुछ भी हो, सब मंडल सम्बन्धी सम्बन्धोंको एक साथ लेने पर भी वह उसके व्यक्तित्वको श्रान्त नहीं करते, पहले तो, क्योंकि समाजके पीछे जाति है जिसकी विशेषता बहुत सूक्ष्म सम्बन्ध है, और दूसरे जाति भी व्यक्तित्वका एक ऐसा अन्तर्भाग (core) छोड़ देती है जिसका संचार नहीं हो सकता।

* प्रो० हॉबहाउस 'समाज' को अत्यन्त विस्तृत शब्द बनाएंगे।

अध्याय ६

भीड़ का मनोविज्ञान

जातिको बनानेवाले सामाजिक व्यक्तियोंके सम्बन्धमें इसके सामान्य चरित्र पर विचार करनेके बाद, छोटे सामाजिक समुदाय जैसे भीड़, झुंड, संगठित समुदायोंकी मनोवैज्ञानिक विशेषताओंका परीक्षण कर सकते हैं। प्रारम्भमें हम "भीड़के मनोविज्ञान" के विवादको विभाजित कर दें। इस विषय पर विचार करनेवाले अब, अनेकों ग्रन्थ हैं, परन्तु प्रो० ग्राहम वालेस के उनकी पुस्तक "ग्रेट सोसाइटी" के यह शब्द अब भी सत्य हैं कि सम्पूर्ण विषयके पुनर्कथन और पुनर्परीक्षणकी आवश्यकता है। विशेषकर संग्रह-शब्दोंके प्रयोगसे और विभिन्न प्रकारके सामाजिक समुदायोंके ठीक वर्गीकरण और नामकरणके अभावसे बहुत गड़बड़ी पैदा हो गई है। ले बां (Le Bon) जिनकी पुस्तक बहुत पढ़ी जाती है, भीड़ शब्दका प्रयोग बहुत विस्तृत अर्थ में करते हैं, जिससे, जैसे "भीड़काज" और "जनताका राज्य" वाक्यांश परस्पर बदले जा सकें। उनके विचारमें एक "मनोवैज्ञानिक भीड़" बनानेके लिए शारीरिक उपस्थिति आवश्यक नहीं है। विशेष आवश्यकता बहुतसे लोगोंके विचारों और भावनाओंका समान दिशामें पड़ना और ले बां के अनुसार एक प्रकारके ऐक्कि संग्रहीत मस्तिष्का परिणाम स्वरूप बनना है।

सर मार्टिन कॉन्वे (Martin Conway) *भी भीड़ शब्दको मनुष्यों के किसी भी ऐसे समूहके लिए जिसका अलग और चेतन अस्तित्व है प्रयोग करते हैं, और उसमें वह ऐसे समूह सम्मिलित करते हैं जैसे झुंड जन-सभाएं, जाति (race), साम्राज्य, राष्ट्र। टार्डे ने भीड़ और जनता

---

* "The Crowd in Peace and War."

(public) में एक लाभदायक पृथकत्व किया है। निश्चय ही सामाजिक सम्पूर्णोंके प्राथमिक वर्गीकरणकी बहुत आवश्यकता है, यदि हमें वेगसे आने वाले सामान्य अनुमानोंकी आपत्तिसे बचना है।

प्रारम्भमें हम सामाजिक समुदायोंको संगठित और असंगठितमें विभाजित कर सकते हैं। (यह केवल मात्राका विषय है; क्योंकि एक बहुत अस्थायी भीड़ भी किसी प्रकारके संगठनका विकास कर सकती है) असंगठितको उन समुदायोंमें सरलतासे विभाजित किया जा सकता है जो शारीरिक उपस्थिति या सम्पर्क पर आश्रित हैं जैसे भीड़ और झुंड, और वह जो आदि रूपसे शारीरिक सम्पर्क पर आश्रित नहीं हैं, हम जनता कह सकते हैं। संगठित समुदाय अनेक प्रकारके मंडलोंको सम्मिलित करते हैं अर्थात् व्यक्तियोंके वह समुदाय जिनमें सामूहिक कार्य और विचारके अपेक्षाकृत अधिक विकसित रूप वाले अपेक्षाकृत स्थिर संगठन हैं। यह बहुत दुखकी बात है कि इन समुदायोंके मनोविज्ञान पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना भीड़ और झुंडके मानसिक प्रमेयों (phenomena) पर दिया गया है।

हम पहले उन समुदायों पर विचार कर सकते हैं जिनमें शारीरिक उपस्थिति या सम्पर्ककी विशेषता है। यह भीड़ और झुंडको सम्मिलित करते हैं। झुंड भीड़का ही एक छोटा प्रकार है। इसकी विशेषता अस्थिरता और अव्यवस्था है तो भीड़ क्या है? प्रारम्भमें अवधानकी एक साधारण दिशा होनी चाहिए। मनुष्योंका एक झुंड जो अपने-अपने काम पर जा रहा है, भीड़ नहीं है। एक साधारण विषय या पदार्थमें ऐसी रुचि की आवश्यकता है, जो उस भीड़के प्रत्येक व्यक्तिके मस्तिष्क में समान विचार और संवेग जागृत कर दे। इसके अतिरिक्त सामान्यतया दूसरोंकी "उपस्थिति" की भावना आ जाती है और इस बातका प्रत्यक्षीकरण होने लगता है कि एकके विचार तथा संवेग अन्य भी बंटा रहे हैं। यह विशेषताएं भीड़ बनानेवाले व्यक्तियोंकी एक प्रकारकी सजातीयता (homogeneity) पर आश्रित होतीं और उपलक्षित करती हैं। समान पदार्थमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए लोगोंमें बहुत कुछ साधारण (common) होना चहिए।

भीड़के सब वर्णनोंमें इन बातों पर ज़ोर दिया गया है; यद्यपि उनसे निकले परिणाम भिन्न हैं। जैसे हम "प्रयत्नशील अवधान", "आशाकी भावना", "चेतनाका संकोच" और उन प्रमेयों (phenomena) के विषय में सुनते हैं जो प्रायः एकाग्रचित्तताके साथ होते हैं, जैसे गहरी शान्ति और रुकी हुई सांस। एक पदेरुइस्की (Paderewski) के प्रदर्शनके वर्णनसे तुलना करो "बातचीत हो रही है, कार्य-क्रमके काग़ज़ोंका खड़खड़ाना, पंखे (अमेरिकन स्त्रियोंकी टोपियोंमें लगे) का संकेतमें हिलना, आशाका एक सामान्य वायुमंडल, और प्रकाशका धीमा किया जाना। शान्ति। सब आंखें उस दरवाज़ेकी ओर जा लगती हैं जिसे रंगमंच दिखती है। वह खुलता है। पदेरुइस्की प्रवेश करता है। करतलध्वनि उसका स्वागत करती है, परन्तु इसके बाद एक चंचल शान्ति, और लम्बी सांस, जो तीन हज़ार स्त्रियोंके गहरी सांस खींचनेसे पैदा हुई है। पदेरुइस्की पियानो पर जा बैठता है। हज़ारों आंखें नाटक देखनेकी दूरबीनोंमें से उसकी प्रत्येक साधारण गतिको भी कष्टप्रद लगनेवाली तीव्रतासे देख रही हैं। वह मूर्ति है और अन्य सब मूर्तिपूजक। प्रदर्शनके अन्तमें, अति शिष्ट स्त्रियां पूर्णतया उसके प्रभावमें आती हुई मालूम होती हैं। संकेत, सुसकियां, मुठ्टी भींचना और सिरोंका झुकना, उत्तप्त चिल्लाहट 'वह मेरा स्वामी है!' यह स्त्रियोंके झुंडमें सुनाई पड़ता है।" (Sidis, "Psychology of Suggestion", 301, quoted Ross, "Social Psychology" P. 45)।

भीड़में जो नीची कोटिकी बुद्धि दिखाई पड़ती है उसको आजकल बहुत बढ़ा दिया है, यहां तक कि परीषदों और संसदों तकके सम्बन्ध में। "तुम झुंडको किसी भी बातमें लगा सकते हो। उसकी भावना उदार और ठीक हो सकती हैं, और बहुधा होती हैं; परन्तु उसके लिए इसकी न तो कोई नींव है और न उसका उस पर कोई ज़ोर; तुम इसे अपने आनन्दके लिए चिढ़ा या हंसा सकते हो; इसका सोचना स्पर्शरोगकी भांति फैलता

---

*पदेरुइस्की पोलेंड निवासी बहुत अच्छा पियानो बजाने वाला था। वह अपनी कला प्रदर्शनके लिए अमेरिका भी आया था, और यहां उसने बहुत रुपया कमाया। उसका पियानो वादन सुनकर लोग मंत्रमुग्ध रह जाते थे (अनुवादक)।

है, जैसे जुकामकी तरह यह दूसरेके मतको ले लेता है, और ऐसी छोटी चीज़ कोई नहीं होती जिसके लिए त्वरित आवेश आने पर यह अपना तन मन न लगा दे; और कोई चीज़ इतनी महान् भी नहीं होती जिससे यह आवेश समाप्त होने पर एक घंटेके अन्दर न भुला दे" (Ruskin, "Sesame", 39)।*

तुम्हें सब चतुर और समझदार समझते हैं परन्तु तुममें बहुत कुछ बुद्धि का अभाव है।

इस बातको बहुत रहस्यमय बना दिया गया है, परन्तु यह बहुत सरल व्याख्याके योग्य लगती है। सामूहिक सोच विचारके अच्छे परिणाम तभी हो सकते हैं जब मतोंका सच्चा अदल-बदल हो, और जब विवादग्रस्त समस्या पर प्रत्येक सदस्य अपने निरीक्षणोंके आधार पर कुछ और प्रकाश डाल सके। यह सच्चे सम्मिलित और सहकारी विचारोंकी ओर बढ़ाता है, जो कि ऐसे परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं जो किसी भी व्यक्तिके अपने लिए उत्पन्न किए परिणामोंसे बढ़कर हो सकता है। असंगठित भीड़में ऐसा स्वतंत्र अदल-बदल असम्भव है। बहुमत अवश्य ही निष्क्रिय श्रोता होता है और परिणाम स्वरूप उन लोगोंका प्रभाव प्रबल होता है जो लोक-मनोविज्ञान के विषयमें सामान्यतया जानते हैं। जो नेता एक भीड़को प्रतीति कराना चाहता है वह उन तर्कोंका प्रयोग नहीं करेगा जो केवल कुछ अत्यधिक शिक्षित तार्किक विचारकोंको पसन्द आ सके। वरन् उन सरल तुल्यताओं, दिखावटी सामान्यताओं और संवेगोंको अपील करेगा जो जहां तक हो बहुमत पर प्रभाव डालें। यह स्पष्ट है कि वह विचार जिसे सम्पूर्ण या अधिकांश भीड़ समझ लेती है, नीची कोटिके होंगे, अतः असंगठित समूहोंकी सामूहिक विचार क्रिया निम्नस्तरकी होगी, विशेषकर जब एक भीड़ एक वक्ताके प्रभावमें है, सामूहिक विचारक्रिया न्यूनतम हो जाती है। वहां बात-चीत

---

*देखिए Schiller :

Jeder siehst du ihn einzeln is leidlich klug und verständig, Sind sie *in corpore*, gleich wird dir ein Dummkopf heraus.

का लेन-देन नहीं होता। "बात-चीतका जीवन उस क्षण समाप्त हो जाता है जब एक व्यक्ति वक्ता बनकर और सबको चुप कर देता है। मेरे विचार में वह कवि रॉजर्स (Rogers) था जिसने हंसीमें कहा था कि दावतमें आनेवालोंकी संख्या म्यूज़ेज़ (संगीत और विद्याकी ९ देवियों) से कम और ग्रेसेज (तीन) से अधिक होनी चाहिएं। जहां एक मेज़के चारों ओर ९ से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं वहां भीड़ बननेका डर रहता है। तीन या उससे कमको पार्टी कह ही नहीं सकते" (Sir Martin Conway, p. 22)।

भीड़ सामूहिक रूपसे नहीं सोच सकती। यह केवल प्रतिस्पर्धी नेताओं को सुनती और उनमें से एकका अनुसरण करती है।

भीड़के सब सदस्योंको केवल प्राथमिक तत्व पसन्द आते हैं, इसके साथ यह बात भी है कि इसके सदस्योंकी संकेत योग्यता बढ़ जाती है। अकेलेमें सुने जानेवाले तर्कोंकी अपेक्षा भीड़की प्रतिष्ठाके साथ प्राप्त तर्क अधिक सरलतासे ग्रहण कर लिए जाते हैं। संकेतका सार चेतना केन्द्रित विचारके अतिरिक्त सब विचारोंको रोकना है और ऐसी संवेगशील या मूलप्रवृत्ति-शील प्रवृत्तियोंका कार्यान्वित होना है जो उस विचारको प्रेरणा शक्ति देती हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं भीड़ प्रमेय (phenomena) में प्रायः अवधानकी स्थिरता और संवेगशील उत्तेजना दिखाई देती है। दक्ष वक्ता जानता है कि अपने श्रोतागणके संवेगोंको कैसे प्रभावित करना है। इन संवेगोंके एक बार जागृत हो जाने पर तो अपील की जाने वाली पद्धतिको अनुरूप करनेवाले सब संकेतोंका स्वागत होना और अन्य त्याग दिए जाएंगे, परिणाम स्वरूप आलोचक शक्तियोंका शासन कुछ समयके लिए रुक जाएगा। जो विशेष संवेगशील और मूलप्रवृत्तिशील प्रवृत्तियां इसमें सम्मिलित हैं वह उस आकर्षणके केन्द्रीभूत उद्देश्यके साथ बदलती रहेंगी। परन्तु सम्भवतया भीड़ोंमें सामाजिक मूलप्रवृत्तियोंकी वृद्धिसे उत्पन्न एक नर्वस खुशी, और मनुष्योंकी बहुसंख्याके साथ विचारों और संवेगोंको बंटाने की आनन्ददायक उत्तेजक भावना सदा रहती है। यह खुशी नेता और जनता पर विभिन्न प्रकारसे कार्य करती है। हो सकता है नेता साधारण-तया जोशमें आकर ऐसी बातें कह जाए जो विभिन्न परिस्थितियोंमें कहनेको

वह स्वप्नमें भी नहीं सोच सकता; लोग नेताके संकेतको ग्रहण करनेके लिए अधिक तैयार रहते हैं। जो कि ले बां ने दिखाया है भीड़में व्यक्ति उत्तरदायित्वके ज्ञानको खो सकता है क्योंकि एक तो उसका उत्तरदायित्व विभाजित है और दूसरे वहां उसका काम अज्ञानतासे ढका हुआ है। इन बातोंमें उत्तेजनाओंकी तीव्र पुनरावृत्ति, और बड़ी भीड़ोंमें संकेतकी मात्रा जोड़ दो, देखो कितनी जल्दी उनके बुद्धिके निम्नस्तरका कारण समझमें आ जाएगा। भीड़में जो श्रद्धालुता होती है, उसका कारण उत्तरदायित्वका अभाव और संकेत योग्यता है। उनके स्वमताभिमान (dogmatism) और असहनशीलताका कारण भीड़में व्यक्तियोंका अनन्त शक्तिका ज्ञान, और प्रतीतिकी तीव्रताकी विशेषता है।

संवेगोंकी तीव्रता या बढ़ती, यह भीड़का दूसरा रूप है जिस पर बहुत विचार हो चुका है। किन्हीं सामूहिक प्रवृत्ति वाले पशुओंमें भय और क्रोध बिजलीकी तरह फैलता है। निस्सन्देह इसका कारण उनके जीवनकी दशाएं, पारस्परिक सहायता पर उनका आश्रित होना और संयुक्त प्रति-क्रिया है। मनुष्योंकी भीड़में, जैसा कि हमने देखा है सामूहिक मूलप्रवृत्तिके सदृश्य एक प्रकारकी अस्पष्ट उन्नति होती है जो व्यक्तिको उत्तेजनाके प्रति अधिक क्रियाशील बना देती हैं। उत्तेजनाकी संग्रहीत पुनरावृत्तिका भी प्रभाव होता है।

फिर, अज्ञात होनेसे रक्षित होनेके कारण लोग अपनी भावनाओंको उतना नहीं रोकते जितना साधारणतया रोकते हैं और स्वतंत्रतापूर्वक उनका प्रदर्शन करते हैं। इसी कारण चिल्लाना, हाव-भाव दिखाना, ठहाकेकी हंसी, भीड़की उन्मत्त हर्षध्वनि, और अति पर पहुंचनेकी प्रवृत्ति होती है। इन अतिशयोक्तियुक्त प्रतिक्रियाओंका उन लोगोंपर अवश्य प्रभाव अपड़ेगा जो पहलेसे संकेत योग्य हैं और इस प्रकार संयुक्त संकेतकी प्रणाली चलती रहती है। अज्ञात होनेके कारण व्यक्तिकी उत्तरदायित्वकी भावना बहुत घट जाती है, परन्तु सम्भव है इसका कारण उस अनन्तशक्तिका इन्द्रजाल हो जिसका अनुभव उसमें भाग लेनेवालोंका होता है।

भीड़के दुराचारी होनेके विषयमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है, परन्तु अन्य बातोंकी भांति इस सम्बन्धमें भी सामूहिक शब्दोंके प्रयोगसे बहुत

गड़बड़ी हुई है। भीड़ स्वयं न अच्छी होती है और न बुरी, परन्तु वह विभिन्न अवसरों पर उत्तेजनाके अनुसार अच्छी या बुरी बन सकती है। भीड़ क्रूर हो सकती है परन्तु वह उदार और दयालु भी हो सकती है। मनुष्य प्रकृतिके अच्छे या बुरे किसी भी पक्षको वक्ता जागृत कर सकता है, और संयुक्त संकेतकी शक्ति भी किसी भी दिशामें कार्य कर सकती है। यह ठीक है कि भीड़का कार्य स्थितिकी प्रकृतिमें विवेकमय विवेचन पर आधारित नहीं किया जा सकता और संकेतकी अधीनता इसे एक छोरसे दूसरे पर जल्दीसे परिवर्तित होनेका शिकार बना देती है। परन्तु यह माननेका कोई कारण नहीं है कि भीड़में व्यक्ति प्राथमिक और नीतिरहित अवस्थामें हो जाता है।

अब हम कुछ और व्याख्यायों पर विवाद कर सकते हैं, जो कि भीड़-मनोविज्ञानके प्रमेयोंके कारण बतानेके लिए की गई हैं। उनमें से बहुत-सी ले बां के सिद्धान्त पर आश्रित हैं कि भीड़में एक नई सत्ता या मस्तिष्कका अस्तित्व हो जाता है जो कि प्रकृतिमें इसके बनानेवाले व्यक्तियोंके मस्तिष्क से भिन्न होता है। इसी कारण यह माना जाता है कि व्यक्ति अकेलेमें जिस प्रकार अनुभव, विचार, इच्छा और कार्य करेगा, भीड़में वह विभिन्न प्रकार से अनुभव, विचार और कार्य करता है। हमें केवल इतना कहनेका अधिकार है कि व्यक्ति जब भीड़में होते हैं, तब वह कुछ ऐसे प्रभावोंके अधीन होते हैं, जो उनके संवेगों और विचारोंको प्रभावित करते हैं। जैसे वह अधिक संकेत योग्य, कम विवेचक, कम आत्मविश्वासी और कम उत्तरदायी होते हैं। भीड़के एकमत (unanimity) होनेकी बहुत अतिशयोक्ति की जाती है। भीड़में व्यक्तियोंकी संकेतयोग्यता अनेकों रूप धारण करती है और उनमें से कुछ व्यक्ति अपनी विवेचक शक्तियोंको रक्खे रहते हैं और भीड़की प्रतिष्ठाका सामना करते हैं। फिर, आशाके अनुसार, संकेत योग्यता जागृत संवेगों और मूलप्रवृत्तियोंके चरित्रके द्वारा सीमित है। यदि संकेत भीड़की संवेगशील प्रवृत्तिसे अत्यधिक प्रतिरूप है, तो इसकी हंसी उड़ाई जा सकती है। कठिनाईसे बचनेका यह सरल मार्ग मालूम होता है कि एक नए मस्तिष्कके अस्तित्वको स्वीकार करके, उस पर, श्रद्धालुता, आवेगशीलता (impulsiveness), अविवेक आदिकी विशेषताओंका आरोपण कर दिया जाए।

संकेत की गई दूसरी व्याख्या भी ले बां के सिद्धान्त पर आश्रित है। वह इस कथनके अन्तर्गत है कि भीड़में अचेतन गुण ऊपर आ जाते हैं अर्थात् वहां मूलप्रवृत्तियोंका उलटना या अचेतनका आश्रय है। जैसा कि मैक्ड्यूगल ने दिखाया है, कुछ स्थितियोंके अतिरिक्त जैसे पुनः चेतना प्राप्ति, इसका कोई प्रमाण नहीं है। कुछ भी हो, एक स्थायी और अचेतनाप्राय आत्मा (self) पर अनेक प्रकारके गुणोंका आरोपण करना, जिसका कोई प्रमाण नहीं है, अज्ञानताके आश्रयमें शरण लेना है। तीसरी व्याख्या, जिसे भी ले बां ने परिचित कराया है, यह है कि भीड़में एक प्रकारका आकर्षक प्रभाव होता है, जो उपस्थित लोगोंमें एक ऐसी अवस्था उत्पन्न कर देता है जो स्वप्न चारी या मोहावस्थित (hypnotized) व्यक्तिमें मिलती है। यह निश्चय ही अतिशयोक्ति है। मोहावस्थित व्यक्ति और क्रियाशील भीड़में कुछ समानताएं हैं, परन्तु अन्तर भी इतने ही विशिष्ट हैं। विशेषकर एक स्वप्नचारी प्रायः नींदमें किए गए अपने कार्योंको भूल जाता है और भीड़ याद रखती है। मोहावस्था के सामान्य लक्षण सांस लेनेमें परिवर्तन आदि इसमें नहीं होते। इस सिद्धान्त में सत्य केवल यह है कि भीड़में व्यक्ति अधिक संकेत योग्य होते हैं। सचमें इनमें से किसी भी व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है। यह बात कि व्यक्ति अकेलेकी अपेक्षा भीड़में भिन्न प्रकारसे व्यवहार करते और सोचते हैं, वातावरणके प्रति व्यक्तियोंके क्रियाशील होनेकी केवल एक विशेष स्थिति है। दूसरोंकी उपस्थितिमें सामाजिक मूलप्रवृत्तियां कुछ चढ़ जाती हैं जो ऐसी विशेष भावना उत्पन्न करती हैं जो नेताओंको नेतृत्व करने और ऐसा करनेमें "अपनेको जाने देने" तथा अन्तको नेतृत्वका अनुसरण करने पर ज़ोर देती हैं। यह विशेष भावना दोनोंको अधिक संकेत योग्य बना देती हैं, नेताको भीड़की उमंग (mood) के प्रति और भीड़को नेताकी उमंगके प्रति। आकर्षणके उद्देश्यके अनुसार संकेत-योग्यता भिन्न रूप धारण करती है। सबमें यह ज्ञान कि हमारे विचारों और भावनाओंको बहुतसे लोग बंटा रहे हैं, उत्साहवर्द्धक है। इस प्रकार सामूहिक संकेतकी एक प्रणाली चलती रहती है, जो विरोधी विचारों और संवेगोंको रोकनेको प्रवृत्त होती और केन्द्रमें रहनेवाले विचारों और संवेगोंको आकर्षणशक्ति तथा बल

देती है। इस विशेष भावनाके साथ आनेवाली अनन्तशक्तिकी एक भावना है, और परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत उत्तरदायित्वके ज्ञानकी कमी है। अवधानके केन्द्रीभूत होने और चेतनाके संकोच पर भी ध्यान देना है, जिसका परिणाम साधारणतया शासन करनेवाले विचारों और आदर्शोंका अभाव है। जब इसके साथ यह बात जोड़ दी जाती है कि भीड़का बौद्धिक स्तर नीचा होता है क्योंकि जो गुण सर्वसाधारण हैं उन्हींको अपील की जाती है, तो यह दिखाई पड़ता है कि झुंडों और सरल भीड़ोंमें जितने भी प्रमेय दिखाई पड़ते हैं सबका कारण दिया जा सकता है।

अध्याय १०

जनता और जनमत

जनताको साधारण (common) मतों और अभिलाषाओंके द्वारा संयुक्त उन व्यक्तियोंका आकार रहित और असंगठित समुदाय कह सकते हैं, जो एक दूसरेके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध रखनेके लिए बहुसंख्यक हैं। यह भीड़से निम्नलिखित बातोंमें भिन्न हैं:

१. पहले तो जनता शारीरिक व्यक्तिगत सम्पर्क पर नहीं, वरन् प्रेस, पत्र व्यवहार आदि द्वारा कृत संचार पर आश्रित रहती है। अत: उसमें झुंडके कोलाहलका अभाव है, और परिणाम स्वरूप उसमें व्यक्तित्वको अधिक सरलतासे रक्खा जा सकता है। उसमें सामाजिक भावनाओंकी बढ़तीका भी अभाव है जो कि कमसे कम कुछ हद तक शारीरिक उपस्थिति के कारण उत्पन्न मालूम होती हैं और यहां तक कि व्यक्ति जनतामें कम संकेत योग्य है।

२. दूसरे, व्यक्ति एक समयमें एक ही भीड़में सम्मिलित हो सकता है, परन्तु एक ही समयमें वह विभिन्न जनताओंसे सम्बन्ध रख सकता और प्राय: रखता है। जैसे वह कई अखबारोंका पढ़नेवाला हो सकता है। विभिन्न जनताओंसे आनेवाले संकेत एक दूसरेको निर्बल करते या निर्णयकी द्विविधा तथा वादविवादको बढ़ाने को प्रवृत्त होते हैं।

३. यद्यपि स्थान कम करनेवाले उपायोंके द्वारा समाचार संचार जल्दी हो सकता है, परन्तु उत्तेजनाकी समकालीनताकी जितनी मात्रा भीड़में होती है, उतनी यहां नहीं होती और इससे संकेत-योग्यता कम हो जाती है।

४. यद्यपि जनताकी स्वयं कोई विशेष आकृति नहीं है, परन्तु यह संगठनोंको अवश्य उत्पन्न करती है और संगठन झुंड-मस्तिष्कके विरुद्ध विभिन्न उपायोंका विकास करते हैं, जैसे वाद विवादके नियम आदि।

भीड़ और जनताके बीच इन तथा इन्हींके समान अन्य भेदों पर प्रायः हालमें ही "भीड़के मनोविज्ञान" के समालोचकोंने जोर दिया है, और यह तर्क किया गया है कि इन भेदोंके कारण जनतामें व्यक्ति इतने संकेत योग्य नहीं हैं जितने भीड़में। कुछ भी हो, यह स्मरण रखना चाहिए कि कुछ विषयोंमें जनताके संकेतकी शक्ति भीड़के संकेतकी शक्तिकी अपेक्षा कहीं अधिक होती है। एक तो, वर्तमान समाजोंमें जनता बहुत अधिक बड़ी और जटिल है, और केवल भीड़से इसकी प्रतिष्ठा उतनी ही अधिक है। बहुत कम व्यक्ति ऐसे मतको रोक सकते हैं जो बहुत ग्राह्य और विस्तृत हैं, तथा जो जनताके प्रभुत्व (authority) से आता है। दूसरे, वर्तमान समाजोंमें मतोंके जानबूझकर बनाने या बिगाड़नेके लिए ऐसी कार्य समितियां (agencies) रहती हैं जो संयुक्त संकेतके भीषण यंत्रोंका प्रयोग करती हैं और जो प्राय: भीड़में दिखाई देने वाली उत्तेजनाकी पुनरावृत्तिकी अपेक्षा अपने प्रभावमें अधिक शक्तिशाली और चिरस्थायी हैं। यह समितियां सामूहिक और पुनरावृत्ति संकेतकी शक्तिका जान-बूझकर चेतन रूपमें अभ्यास करती हैं और प्लैटफ़ार्म, पुलिपट, "चित्रों" और सबसे अधिक प्रेस की सहायतासे स्वयं भीड़को एक माध्यमकी भांति प्रयोग करती हैं। सब समय जनता पर एक बहुत बड़े परिणाममें भीड़-संकेत पर अभ्यास किया जाता है, यद्यपि यह बात संकटके समय अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब शक्तिशाली संवेगशील और मूलप्रवृत्तिशील धारणाएं कार्यशील होने लगती और उन सबको उस साधारण स्तर तक नीचा कर देते हैं जिनमें जो कुछ भी विशेष और निजी है सब खो जाता या निमग्न हो जाता है। अतः यद्यपि साधारण समयमें जनताकी मानसिक शक्ति अधिक विवेकमय और कम विस्फोटक होती है, और शब्दके संकुचित अर्थमें, इसमें बहुतसे तत्व ऐसे होते हैं जो भीड़में भी होते हैं।

वर्तमान समाजकी विशेषता उसकी जनताओंकी जटिलता और उसके एक दूसरे से सम्बन्ध तथा उन संस्थाओं और मंडलोंसे सम्बन्धका, जिसको वह उत्पन्न करते हैं, उचित ज्ञान जनमतकी प्रकृतिको वास्तविक रूपसे समझनेके लिए आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि जीवधारी और मस्तिष्क दोनोंकी सम्बोधना समान रूपसे जातिकी एकताकी अतिशयोक्ति करती है।

जाति उन समूहोंकी श्रृंखलासे बनती है, जिनमेंसे कुछ अनुरूप और कुछ भिन्न होते हैं तथा इसका उदाहरण गोलों (circles) की श्रेणीसे दिया जा सकता है, जिनमें कुछ एक केन्द्रके और अन्य एक दूसरेको काटनेवाले हैं। व्यक्ति इनमें से कुछ गोलोंसे सम्बद्ध होते या हो सकते हैं, और इन गोलोंसे उनके सम्बन्ध की निकटता बदलती रहती है। और फिर समूह स्वयं भी निश्चित नहीं वरन् प्रवाहकी अवस्थामें हैं, और इनमें निरन्तर गति और रूपान्तर होता रहता है। प्रत्येक समूहमें क्रियाशील विचारों और स्थानीय भावोंका एक ढेर होता है जो एक संचार प्रणाली तथा परस्पर प्रभावका परिणाम है। प्रत्येक के अन्दर एक मंडल बन गया, अर्थात् साधारण उद्देश्य और संस्थाओंकी प्राप्तिके लिए संगठन, अर्थात् समूहके सदस्योंके बीच निश्चित या आज्ञप्ति सम्बन्ध विधियां। कुछ भी हो, समूहके अन्दर सदैव उससे अधिक अवश्य रहता है जितना इसके मंडलों और संस्थाओंमें प्रदर्शित किया जा सके। जो सम्बन्ध सामाजिक समूहोंके सदस्योंके बीच होते हैं वह उन मूर्तिमत्ताओं के योग्य होनेके लिए अधिक और विभिन्न हैं जिनके प्रबन्धकी विधियोंका न्यूनाधिक यांत्रिक होना अवश्यम्भावी है। संगठनों और संस्थाओंके पीछे, जो कि इस प्रकार एक अर्थमें जनताके कार्य करनेकी विधि हैं, सदा अस्पष्ट और "चलायमान" विचारोंका ढेर रहता है। इसका प्रभाव उन परिवर्तनों में प्रदर्शित होता है जो संस्थाओंमें होते रहते हैं और जिसका आवश्यकता के समयमें कभी-कभी प्रत्यक्ष प्रदर्शन होता है। क्योंकि जनता जब एक संगठन नहीं बना सकती तब एक भीड़ बना देती है; प्रत्येक समूहमें अपने क्रियाशील विचारों, स्थायी भावों, और अभिलाषाओंका ढेर होता है। क्योंकि व्यक्ति एक ही समयमें विभिन्न मंडलियोंसे सम्बद्ध होते हैं, प्राकृतिक है कि विभिन्न जनताओंमें बहुतसे साधारण तत्व हैं। इस बातके साथ कि समूह निरन्तर गतिमें रहते हैं इस स्थितिका परिणाम विचारोंका परिणाम निरन्तर संघर्ष और सम्पर्क है और फलस्वरूप एक मंडलीसे दूसरेमें, कमसे कम उन्नतिशील और क्रमबद्ध समाजोंमें तो विचार बह निकलते ही हैं। इस प्रकार जनता जनताओंका जटिल या समुदाय है और जब हम कहते हैं कि अमुक मत जनताका है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि जो बहुतसे जनमत इस विषय पर प्रत्येक समूहों या छोटी जनताओंके अन्दर है, उनमें यह प्रधानता रखता है।

यह प्रधानता एक मतको उपलक्षित नहीं करती। निश्चय ही यदि एक मत पर अड़ा जाए तो जनमतका क्षेत्र वहुत सीमित होना चाहिए। इतना तो निश्चय मालूम होता है। हम जनताके विषयमें, कमसे कम जनमतके द्वारा सरकारके विषयमें तब तक कुछ भी नहीं कह सकते जब तक हम व्यक्तियोंकी उस संस्थाको निर्दिष्ट न करें जो स्थायी भावों और साधारण विचारोंके बन्धन से युक्त हैं और जिनमें कमसे कम अपने संघको बनाए और चालू रखनेकी अभिलाषा है। जिन समूहोंमें वास्तवमें गहरी विषमता है, कोई जनमत नहीं हो सकता। खुले और तीखे जाति विरोधमें यह स्पष्ट हो जाता है। तब जनमतको बहुधा अपील किया जाता है, और प्राय: इस बात की अवहेलना की जाती है कि यद्यपि विस्तृत अर्थमें जातिके वह अंग जिनके विरुद्ध अपील की जा रही है, स्वयं जनताके अंग हैं, परन्तु यही कुछ समयके लिए एक अलग अपनी ही जनता बना लेते हैं, जिसमें उनकी अपनी रूचि है। यहां पर संख्याका प्रश्न बहुत प्रासंगिक नहीं है; क्योंकि अल्पमत अपनेको बहुमतकी र यसे सीमित नहीं समझ सकता, जब तक कि यह स्थायी भेदोंको दूर करने वाले एक रूचि समूहको न स्वीकार कर ले। इससे यह पता चलता है कि जनता शब्दसे एक मत उपलक्षित नहीं होता, केवल बहुमतके द्वारा स्वीकृत होना किसी मतको जनमत बनानेके लिए काफ़ी नहीं है। यह आवश्यक है, जैसा कि लॉवेल (Lowell)* ने दिखाया है कि बहुमतके निर्णयोंको ग्रहण करने के लिए अल्पमत अपनेको विवश समझने लगे इसके लिए रूचि समूह होना आवश्यक है, और इससे कुछ "पारस्परिक विरोध" (irreconcilables) का अभाव और सजातीयता उपलक्षित होती है। एक मतको जनताका मत बनानेके लिए निम्नलिखित तीन दशाएं आवश्यक मालूम होती हैं। पहले तो एक समूहमें, जिसमें कुछ "उस प्रकारकी चेतना है", रूचियोंके अन्तिम सादृश्यकी भावना विस्तृत रूपसे हो। दूसरे, इसे एक सहकारी उत्पत्ति होना चाहिए, जातिके बहुतसे मस्तिष्कोंके मिलनका फल। तीसरे इसके विस्तृत फैलावको एक सामान्य स्वीकृति होनी चाहिए प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि

---

* "Public Opinion and Popular Government."

यह साधारण मत है। इस प्रकार जनमतका अर्थ है जातिमें क्रियाशील विचारों और निर्णयोंका ढेर, जो कि न्यूनाधिक निश्चित रूपसे बनाए गए हैं और जिनमें कुछ स्थिरता है, और उन लोगोंके द्वारा अनुभव किए जाते हैं जो उन्हें इस अर्थमें सामाजिक मानकर रखते हैं कि वह ऐसे मस्तिष्कों के परिणाम हैं जो एक साथ काम करते हैं और न्यूनाधिक चेतन हैं कि वह एक साथ काम कर रहे हैं।

अबतक हम "जनता" शब्द पर विचार कर रहे थे। अब "मत" शब्द की ओर प्रवृत्त होते हैं। टार्डे, मतके अनुमानमें अभिलाषा और इच्छाको सम्मिलित नहीं करेंगे, जब कि अन्य जैसे लॉवेल, इस अन्तरको उड़ा जाते हैं, और लौकिक मतको उसके सदृश बतानेको प्रवृत्त होते हैं, जिसे वह सामान्येच्छा कहते हैं। जिन्होंने जनमतका अध्ययन किया है उन्होंने राजनीतिके क्षेत्र पर विशेष ध्यान लगाया है, और यहां समस्याओंकी जटिलताके कारण, दोनों शब्दोंको पहचाननेमें गड़बड़ी होना सरल है। दोनों प्रत्यय बहुत अस्पष्ट हैं और निश्चय ही सीमा अंकित करना कठिन है। जब हम जनमतके द्वारा सरकारके विषयमें कुछ कहते हैं तो हमारा लगभग वही तात्पर्य है जो कि जब हम कहते हैं कि सरकार सामान्येच्छाका प्रदर्शन है। हमारे सामान्येच्छाके विवादसे यह पता चलता है कि जो शक्तियां सामाजिक कार्यका शासन करती हैं, वह सामान्य नहीं हैं, जहां तक कि वह आत्मचेतन ऐच्छिक कार्योंके परिणाम हैं। परन्तु, वह जो कि सामान्य हैं वह बिल्कुल ठीक अर्थमें इच्छा कार्योंके कारण है, यह नहीं कहा जा सकता। एक जाति में जो वास्तवमें सामान्य है, वह है सामाजिक रचनाको बनाए रखनेकी एक अस्पष्ट अभिलाषा, और कदाचित् लोगोंके आदतजन्य और व्यवहारिक विचारोंके साथ किन्हीं नए प्रस्तावोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलताका एक ज्ञान, परन्तु इन अस्पष्ट मानसिक तत्वोंको अच्छा कहना कठिन है। अब यदि हम उन विषयोंकी परीक्षा करें जिनके सम्बन्धमें सरकारी क्षेत्रमें जनमत प्रभावशाली है, हम देखेंगे कि वह बहुत गम्भीर और आवश्यक प्रकृतिकी समस्याओंमें सीमित हैं, जो कि सुव्यवस्थित रूढ़ियों या अन्य दीर्घकालीन शक्तियोंके कारण प्रतिक्रियाओंका आह्वान करती हैं, क्योंकि यह अस्पष्ट अनुभव होता है कि वह सम्पूर्ण सामाजिक रचनाकी

स्थिरताको धमकी दे रही हैं। और यह अर्द्धमूलप्रवृत्तिशील प्रतिक्रियाएं भी उसका अन्तर्भाग हैं जो कुछ वास्तविकता सामान्येच्छा में है। फिर भी, सामान्येच्छाकी अपेक्षा जनमतका क्षेत्र अधिक विस्तृत है और कदाचित् जनमतकी सम्बोधना अधिक न्याय्य है। क्योंकि वास्तवमें तो इच्छाको आत्म-चेतन व्यक्तित्वके कार्योंमें सीमित रहना चाहिए, और इस बात पर सन्देह किया जा सकता है कि क्या सबसे गम्भीर सामाजिक निर्णय भी जनताके ऐसे चेतन कार्योंका परिणाम हैं। दूसरी ओर, मत शब्द अधिक अस्पष्ट है और भीतरी पूर्वगृहीत बातोंके मिश्रण, स्थापित आदतों और आचारों, अस्पष्ट अभिलाषाओं और संभ्रान्त विचारोंके लिए, जो कि उन मानसिक शक्तियोंको बनाते हैं जो समाजमें यथार्थमें क्रियाशील हैं, इसका प्रयोग अनुचित रूपसे नहीं होना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य है कि कुछ लेखक, जिन्होंने सामान्येच्छाके प्रत्ययको रद्द कर दिया है, जो कि विशुद्ध सदा ठीक मानी जाती है, इसके स्थानमें लौकिक मतके प्रत्ययको खड़ा कर रहे हैं, उस मत पर वह औसत व्यक्तिके मतकी अपेक्षा श्रेष्ठता और यहां तक कि उससे भी अधिक श्रेष्ठता आरोपित करते हैं जो मत सर्वोत्तम व्यक्ति अपने लिए बना सकते हैं। जैसे, डा० मैक्ड्यूगल ने भी यही किया है। वह यह समझते हुए नहीं मालूम होते कि वह जो लौकिक मतके लिए चाहते हैं बिल्कुल वही रूसो और बसांक्वे उसके लिए चाहते हैं जिसे वह सामान्येच्छा कहते हैं, और जैसे मैक्ड्यूगल के लिए लौकिक मतकी सर्वोत्तम व्याख्या जातिके सर्वोत्तम मस्तिष्कों द्वारा होती है, उसी प्रकार यह निश्चित करनेके लिए कि लौकिक इच्छा क्या चाहती है रूसो को एक "चतुर विधायक" की आवश्यकता हुई। सच यह मालूम होता है कि लौकिक मत और सामान्येच्छा की समान रूपसे बुद्धिमत्ता और विशुद्धिको दोनों स्थितियोंमें उनकी वास्तविक प्रकृतिकी छान-बीन किए बिना केवल मान लिया गया है। सामान्येच्छाके सम्बन्धमें जांचसे पता चलता है कि जो सामान्य है वह इच्छा नहीं है, और जो इच्छा है वह सामान्य नहीं है। सम्पूर्ण जातिके सम्बन्धमें सबसे अधिक जो हम कह सकते हैं वह यह है कि या तो यह कुछ लोगोंके निर्णयोंको चुपचाप ग्रहण कर लेती है या केवल उत्साहरहित और उदासीन है, या असन्तोषके न्यूनाधिक अस्पष्ट चिह्न प्रदर्शित करती है। निश्चय ही

हम एक अर्थमें जातिके बढ़ते हुए ज्ञानके विषयमें कह सकते हैं, परन्तु यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि सर्वोत्तम व्यक्तियोंके स्वच्छ नैतिक विचारों से इसकी तुलना करनेमें यह अच्छा नहीं बैठेगा, और निश्चय ही इसका वर्णन नैतिक इच्छाकी भांति नहीं किया जा सकता। यही बात मतके विस्तृत प्रत्ययके साथ है, हम कह सकते हैं कि यह जातिके अधिक सक्रिय सदस्यों की उत्तेजनाके प्रति अधिक निष्क्रिय सदस्योंकी प्रतिक्रियामें मिलता है। परन्तु यह प्रतिक्रियाएं बहुत विभिन्न प्रकृतिकी हैं। श्मौलर(Schmoller)* कहते हैं कि जनमत उस लाखों तारकी वीणाके समान है जिसको सब दिशाओंकी वायु बजाती है। जो ध्वनि उसमेंसे निकलती है वह सदा ऐकिक या अनुरूप नहीं होती। लय की बहुत विभिन्न धाराएं एक दूसरेको काट देती हैं। यह जिस उद्देश्यकी ओर निर्दिष्ट है उसके सम्बन्धमें और उन मानसिक तत्वोंके सम्बन्धमें जिसके द्वारा यह कार्य करता है इसमें स्थायी परिवर्तन हो सकता है। वह अभी यह चाहता है और अभी वह। आज यह कामनाओं पर कार्यान्वित होता है, कल यह शान्त विचारको अपील करेगा। इस प्रकार मत शब्द ठीक ही चुना गया है; क्योंकि विचारके इतिहासमें मतकी विरोधात्मक तुलना सदा पर्याप्त ज्ञानसे की गई है और उसमें इस बातकी विशेषता बताई गई है कि यह कथित प्रमाण, केवल गणनीय आधार कि अपूर्ण प्रयोगसिद्ध सामान्यताओं और मानी हुई रूढ़ियों तथा पूर्वग्रहणों (prepossessions) पर आश्रित है। इस प्रकार एक ओर तो विवेक या पर्याप्त ज्ञानसे और दूसरी ओर केवल क्षणिक प्रभाओंसे मतको पृथक् किया जा सकता है। जब कि विवेक या ज्ञान वैज्ञानिक कारणों पर आश्रित है और सब प्राप्त प्रमाण और आवश्यक सम्बन्धों और सम्पर्कोंके स्थापन से प्रारम्भ होता है, वह स्पष्ट मालूम होता है कि विषयोंकी बहुसंख्या पर जिसके सम्बन्धमें कि अपेक्षाकृत अधिक स्थायी मत है, जो व्यक्ति वह मत रखते हैं, उनको प्रमाणको तौलनेका न तो कोई अवसर मिला और न वह प्रमाणको किसी ऐसी सावधानी या छान-बीनके साथ विश्लेषण या सूक्ष्म परीक्षा करनेके योग्य हैं, जिसकी आवश्यकता सच्ची वैज्ञानिक अनुमानके लिए

* "Grundriss," 1, p. 14.

हो। विवेक रहित तत्वों पर, जो कि सबसे आवश्यक सार्वजनिक निर्णयोंमें भी प्रवेश करते है, अभी पीछे काफ़ी जोर दिया जा चुका है, अतः उस पर यहां आगे विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर, मत वही चीज़ नहीं है जो एक उत्तेजनाके प्रति, क्षणिक प्रभाव या मूलप्रवृत्तिशील प्रतिक्रिया है। जैसे यह स्पष्ट मालूम होता हैं कि जिस प्रकारकी प्रतिक्रिया एक व्यक्तिके मस्तिष्कमें यह घोषणा पत्र "कैसर को फांसी पर लटका दो," पढ़ने से जागृत होती है, वह मत कहलाने योग्य नहीं है, यद्यपि निस्सन्देह मतमें जो कुछ सम्मिलित होता है उसके अधिकांशका कारण मूलप्रवृत्तियों और संवेगोंको समान अपीलकी बराबर पुनरावृत्ति है। दूसरे शब्दोंमें, मत एक समाज या समूहमें, विचारों और विश्वासोंके उस ढेरको कहते हैं जिसमें एक स्थिरता है और जो केवल क्षणिक प्रतिक्रियाओंकी एक श्रेणी नहीं है, परन्तु अभी तक वैज्ञानिक प्रकृतिके विचारेहुए कारणों पर आश्रित नहीं है। जनता शब्दका अर्थ पहले ही समझा दिया गया है, वह है न्यूनाधिक आकृति रहित एक जन समूह, यद्यपि इसके अन्दर कुछ संगठन और संस्थाएं सम्मिलित हो सकती हैं। ऐसे प्रत्येक समूहमें विचारोंका एक ढेर होगा, अधिक क्रियाशील सदस्योंके द्वारा प्रारम्भ किया हुआ, परन्तु बादमें अन्य विचारोंके सम्पर्कसे परिमार्जित, और अन्तमें प्रायः ऐसा वेश बना लेगा जो उसके उत्पादक मानेंगें या पहचानेंगे भी नहीं। इस प्रकार बहुतसे मस्तिष्कोंकी अन्तः क्रिया के कारण जनमत एक सामाजिक उत्पत्ति है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि संघर्षसे जो विचार उत्पन्न होते हैं वह तर्ककी दृष्टिसे सदा सर्वोत्तम नहीं होते। जनमतमें परिवर्तनकी आश्चर्यजनक लहरें आ सकती हैं। कुछ विचार क्यों प्रवेश कर जाते या निकल जाते हैं इसका अन्तिम कारण प्रायः उन बातोंमें मिलता है जो समयकी जटिल परिस्थितियोंमें शक्तिशाली मूलप्रावृत्तिक और संवेगशील प्रवृत्तियोंको अपील करनेमें विवेकमय शासन के अन्तर्गत नहीं है, परन्तु जिन लोगोंको वह प्रभावित करती है वह उनको या तो बहुत अस्पष्टतया समझते हैं या बिल्कुल नहीं समझते। जैसा कि प्रायः दिखाया गया है विचारोंका एक प्रकारका प्राकृतिक "चुनाव" होता है. परन्तु जो "सबसे योग्य" हैं वही तर्क या नीतिकी दृष्टिसे सर्वोत्तम नहीं हैं, वरन् केवल विशेष परिस्थितियोंके सर्वाधिक अनुकूल हैं। प्रोफ़ेसर डाइसी

(Dicey) कहते हैं कि "विश्वासमें परिवर्तन-विषयक घटनाओंके घटित होनेसे होता है, जो कि दुनियाके बहुमतको, उन सिद्धान्तोंको रूचि पूर्वक सुननेको प्रवृत्त करती हैं, जिनका एक समयमें, बुद्धिमानोंने मूर्खता कह कर उपहास किया था, या जिन पर असत्यानास (paradox) की भांति अविश्वास किया गया था*"

वह बहुतसे अच्छे उदाहरण देते हैं। जैसे १७८३-१८६१ के बीच सम्पूर्ण संयुक्त राज्य अमेरिकामें दासप्रथाके अतिरिक्त, धार्मिक विश्वास और राजनीतिक संस्थाएं समान थीं। फिर भी उत्तरमें दासता निन्दनीय थी और दक्षिणमें न्याय्य। धारणाका अन्तर केवल परिस्थितियोंके अन्तरसे सम्बद्ध किया जा सकता है। फिर यह लोकप्रसिद्ध है कि युद्ध कालमें जागृत शक्तिशाली प्रवृत्तियों और संवेगोंके शासनमें लोग उन विचारोंको सरलता से ग्रहण कर लेंगे और सच्चाईसे उनमें विश्वास करेंगे जिनके लिए वह साधारण समयमें बहुत संशयात्मक होंगे। लौकिक विचार क्रिया नार्मल समयमें भी अचेतन "जटिलों" से जैसा कि साधारणतया समझा जाता है इससे कहीं अधिक शासित होती है।

इस प्रकार हमें लौकिक मतकी लोक प्रसिद्ध बुद्धिमत्ता और विशुद्धिका कोई प्रमाण नहीं मिल सकता, और हीगेल के साथ यह भी माना जा सकता है कि इससे स्वतंत्र होना किसी भी चीजके महान् या विवेकी होनेकी पहली अवस्था है। और जिस प्रकारसे जनमत क्रियाशील होता है उसमें किया गया आगमनका (inductive) अनुसंधान भी इसके ऐसे गुणगानका समर्थन नहीं करता, जैसे इस जातिकी "सामाजिक चेतना" "ईश्वरका वाक्य" आदि कहकर वर्णन करनेमें उपलक्षित है। जनमतका खुश या नाखुश होना, दोनों समान रूपसे उत्तेजक और अस्थिर हैं और विवेक और निर्णयके साथ बहुत ही कभी विश्वासघात करते हैं। घुड़दौड़ करने वाले, पहलवान, सामाजिक उपन्यासोंके लेखक भी परोपकारी व्यक्तियों, संसार में क्रान्ति करनेवाले अन्वेषकों, और महान् विचारकोंके साथ समान सम्मान प्राप्त करते हैं। केवल इन स्थितियोंमें जनमत बहुत जल्दी और निश्चय

* "Law and Opinion in England," Lecture II.

प्रतिक्रिया करता हैं, जब कि आदतकी शक्ति और मूलप्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि उन कार्योंके जिनके विरुद्ध यह इतना तीव्र दबाव डालता है, किसी प्रकार भी फैलनेकी सम्भावना नहीं है।* आपत्तिके समय जनमत प्रायः एक नैतिक इच्छाकी भाँति कार्य करनेमें अपनी नितान्त असमर्थता प्रदर्शित करता है। तब शान्त निर्णयका स्थान मूलप्रवृत्तिशील क्रोध ले लेता है। ऐसे समयोंमें जनताको एकता दिखाती है उसका कारण अन्तरोंका सच्चा समाधान नहीं, वरन् चेतनाका संकोच है जिसके परिणामस्वरूप बौद्धिक शासनका अभाव और प्राणिविधि सम्बन्धी तथा सामाजिक परम्पराके कारण प्रतिक्रियाकी ऐकिक या एक समान विधियोंकी जीत है। जनमतके मूल्य सम्बन्धी वादविवाद ने सदैव अति पर ज़ोर देनेकी विचित्र प्रवृत्ति दिखाई है। सिसरो ने कहा है कि "सामान्य रूपमें विवेक, बुद्धि, विचार, ज्ञान नहीं रहता ("non est consilium in vulgo, non ratio, non discrimen, non intelligentia",) और फ़्लॉबर्ट (Flaubert) लोगोंको "दुराचारी पशु," या एक सनातन शिशु कहते हैं जो सामाजिक तत्वोंके सोपानमें सदा अन्तिम रहेगा। वर्तमान समयमें बहुत से लेखक लोगोंके मतको मूल्यरहित समझकर रद्द कर देते हैं, इस कारणसे कि उनमें अस्थिरता और अत्यधिक संकेत योग्यता है। दूसरी ओर, जनमत पर प्रायः सबसे महान् व्यक्तियोंसे भी अधिक सूक्ष्मबुद्धि और विश्वसनीयताका आरोपण किया गया है। यह साधारणतया माना गया है कि गम्भीर विषयों पर जनताका निर्णय सदा ठीक होता है और कला और साहित्यके सम्बन्ध में यह "समय" है जो बताता है। प्रो० बसांक्वे हमें साफ़-साफ़ बताते हैं कि "जनमतमें हमारे पास एक ऐसा विरोध है जिसका यथार्थ अस्तित्व है। जनताकी भांति यह ठीक और सत्य है, और इसके अन्दर राज्यकी आचार-नीतिक प्रवृत्ति है। जैसा कि व्यक्तियोंने प्रदर्शित किया है, उनके विशेष निर्णयोंमें जिन पर कि उन्हें गर्व है, यह झूठ और अभिमानसे भरा हुआ है। यह बुरी चीज़ है जो विचित्र है तथा जिस पर लोग गर्व करते हैं। विवेकमय चीज प्रकृतिमें सार्वलौकिक होती है परन्तु उसका साधारण होना आवश्यक

---

* See Ross, "Social Control" p. 98.

नहीं।" इन विरोधी मतों पर विचार करते हुए यह स्मरण रखना चाहिए कि जनताको दुराचारी या मूर्ख कहना उतना ही अपकारी और मिथ्याबोध करानेवाला है जितना इसे सदा ठीक कहना और आत्माकी उच्चतम मूर्तिमत्ता की भांति इसका वर्णन करना। दोनों वर्णन समान रूपसे सामान्य जनता पर एक ऐसी काल्पनिक एकता और सादृश्यके आरोपणको उपलक्षित करते हैं, जो इसमें नहीं है। दूसरे जनमतकी बुद्धिमत्ता और अच्छाई तथा मूर्खता और दुष्टता सम्बन्धी कथन बिल्कुल निरर्थक हैं। जिस प्रकारकी जनतासे तात्पर्य है, सामूहिक विचार-विमर्षके लिए जिस संगठनका अस्तित्व है, और जिन लोगोंके सम्बन्धमें निर्णय करना है, उन पर विचार करना चाहिए। क्रमिक उन्नतिके सिद्धान्तके प्रधान नियमोंके सम्बन्धमें जो मत प्राणिविज्ञान वेत्ताओंके समूहमें रहती है, हो सकता है कि वह बहुत ज्ञानपूर्ण हो, परन्तु खान खोदने वालोंके हड़ताल करनेके अधिकारके सम्बन्धमें उनकी राय अविचार-पूर्ण और अशिक्षित हो सकती है। अतः जनमतके मूल्य पर विचार करते हुए हमें दोनों बातें अर्थात् वर्तमान समाजोंकी जटिलता और उनके अन्तः सम्बन्ध तथा उन समस्याओंकी जटिलता जिन पर उन्हें विचार करना है, याद रखनी हैं; और इन दोनों बातों पर विचारमें सम्मिलित होंगे जनताओं का विश्लेषण और वर्गीकरण, उनकी विशेष समस्याओंका विस्तृत वर्णन तथा वह साधन जो अन्य जनताओंके साथ सामूहिक विवेकमय और अन्तः संचार के लिए उनके पास हैं। इस बीचमें इस बातकी ओर ध्यान आकृष्ट कराया जा सकता है कि सरकारके सम्बन्धमें जनमतका वास्तविक मूल्य उसके निर्णयोंकी विशेष बुद्धिमत्तामें नहीं रहा है, वरन् बिल्कुल ही दूसरे विचारों में है। पहले तो जनमत जितना जनताका होनेके कारण महत्व रखता है, उतना मत होनेके कारण नहीं। सार्वजनिकता (publicity) सामाजिकता की आवश्यक स्थिति है; और यह बिल्कुल ठीक कहा गया है कि एक समाज में सार्वजनिकताकी मात्रा इसके आन्तरिक सम्बन्धकी मात्राका प्रत्यक्ष नाप है। जनताकी स्वीकृति और अस्वीकृति एक बड़ी भारी शक्ति है, और यद्यपि यह सदा व्युत्पन्न (entightened) नहीं हो तो फिर भी यह समाजके शक्तिशाली लोगोंकी योजनाओं पर एक रुकावट की भांति काम करती है। इस दृष्टिकोणसे जनमतका मूल्य इसके प्रारम्भ करनेकी शक्तिमें नहीं वरन्

इसके शासनमें है। सच है, इसका अनुग्रह अमिश्रित नहीं है। मनुष्य जाति के समूहकी उदासीनता, उपेक्षा और उद्विग्न विरोधके विरुद्ध नए विचारोंके अत्यधिक मर्मभेदी संघर्ष से इतिहास भरा पड़ा है, परन्तु फिर भी शासनको हटाया नहीं जा सकता और इसे तर्कयुक्त प्रोत्साहनके लिए खुला और ज्ञानयुक्त बनानेकी ओर सब प्रयत्नोंको निर्दिष्ट करना चाहिए।

दूसरे, जनमतका महत्व सरकारके सम्बन्धमें है क्योंकि यह अत्यन्त महत्त्व की विद्यमान यथार्थता है और इसको तुच्छ समझना विनाशकारी है। सरकार अनुमतिसे होनी चाहिए, और जैसा कि बहुत समय पहले अरस्तू दिखा चुका है जनताकी किसी भी बड़ी संख्याको सरकारमें भाग लेने देनेसे रोकना बहुत अधिक आपत्तिजनक है, क्योंकि इसका अर्थ होगा, राज्यमें ऐसे तत्व की निरन्तर उपस्थिति जो सरकारके विरुद्ध और उससे निरन्तर असन्तुष्ट है। यद्यपि इस दृष्टिकोणसे वर्तमान राज्योंमें सरकारके यथार्थ विवेचनोंमें प्रत्येक नागरिकका प्रत्यक्ष भाग जनमत में सम्मिलित नहीं होता वरन् शासकवर्गके न्याय्य चरित्रके प्रति केवल एक सामान्य स्वीकृति या अनुकूलता अर्थात् एक सामान्य स्वीकृति होती है कि बहुमत प्रचलित होगा। जैसा कि लॉवेल ने दिखाया है यह जोड़ देना चाहिए कि जनमत द्वारा किए जानेवाले शासनके लिए मत ऐसा होना चाहिए कि, चाहे अल्पमत इसमें भाग न ले, परन्तु वह डर से नहीं वरन् दृढ़ विश्वाससे इसे स्वीकार करनेको बाध्य हो, और यदि प्रजातंत्र पूर्ण है तो अल्पमतको प्रसन्नतासे अधीनता स्वीकार करनी चाहिए। यह निश्चित करना कठिन है कि वर्तमान जातियोंमें यह पिछली बात कहां तक सिद्ध हुई है। अधिकांश मतदाताओंके लिए सरकारके प्रति अधीनता स्वतंत्र चुनावके तत्वके अधिक प्रदर्शनके बिना मूक स्वीकृतिसे अधिक पर आश्रित नहीं है, और जब कि अल्पमत बढ़ रहे हों, तो यदि वह अधीन हो भी जाते हैं तो प्रसन्नतासे नहीं।

तीसरे हम इस सम्बन्धमें अरस्तू द्वारा बताई गई बातको संकेत कर सकते हैं। यह दिखाता है कि यद्यपि ज्ञानके सम्बन्धमें अज्ञानोंकी बहुसंख्या की अपेक्षा दक्षोंकी अल्पसंख्या कहीं अच्छी होगी, परन्तु प्राय: एक चीजका सर्वोत्तम निर्णयकर्त्ता उसका निर्माता नहीं होता, वरन् उसको प्रयोग करने वाला होता है। जैसे प्राय: दावतका जज रसोइएकी अपेक्षा मेहमान अधिक

अच्छा हो सकता है, इसी प्रकार मकान बनानेवालेसे मकानमें रहनेवाला अधिक अच्छा जज हो सकता है। अतः यह भी माना जा सकता है कि जनता, जिस पर शासन हो रहा है, यह सबसे अच्छी तरह जान सकती है कि सरकार रूपी जूता कहां काट रहा है।

चौथे, कदाचित् जनमतके द्वारा किए जानेवाले शासनका सबसे प्रधान औचित्य इसके शिक्षा-मूल्यमें है। जनता विचार करनेसे विचारना सीखती है, इसी प्रकार यह अपने पर शासन करनेसे शासन करना सीखती है। प्रजातंत्र शासनका यह सदा वास्तविक बचाव रहा है और वर्तमान समयमें इसका अभिप्राय और भी स्पष्ट होता जा रहा है। जनमतसे किए जानेवाले शासनकी बुराइयां अधिकतर जान-बूझकर बिगाड़नेके लिए कार्य करनेवाली समितियोंके अस्तित्व तथा इस बातके कारण हैं कि अधिकतर व्यक्तिओंमें ऐसा सार्वलौकिक मस्तिष्क नहीं है जो उन्हें बड़ी और कठिन समस्याओंमें एक व्युत्पन्न रूचि लेने योग्य बना दे या वह अपने ही मामलोंमें इतने संलग्न हैं कि उन्हें अपनी देशभक्ति दिखानेका अवसर ही नहीं मिलता। इन बुराइयोंका पहला कारण सामान्यतः स्वतंत्र प्रेसकी संस्था और अच्छी शिक्षासे दूर किया जा सकता है। दूसरा सामाजिक संगठनकी अधिक कठिन समस्याओंको उत्पन्न करता है और इसके साथ कठिनाईका एक तीसरा कारण सम्बद्ध है, वह है उन समस्याओंकी महान् जटिलता जिनसे वर्तमान जातिको व्यवहार करना है। यह धीरे-धीरे माना जाने लगा है कि जनमत को वास्तवमें सहायक शक्ति बनानेके लिए स्थानिक अधिकार प्रदान करने (decentralization) और शक्ति-विभाजनकी बहुत आवश्यकता है। विशेषकर कार्य आधार पर मंडलोंका प्रबन्ध व्यवहृत विषयोंको अत्यधिक सरल कर देगा और कमसे कम इसकी विशिष्ट समस्याओंके सम्बन्धमें प्रत्येक मंडलके अन्दर एक व्युत्पन्न जनमतके अस्तित्वको सम्भव बना देगा। फिर भी इन मंडलोंको आत्म केन्द्रित और अनन्य (exclusive) होने देनेसे रोकनेके लिए और एक समूहसे दूसरे समूहमें मत और भावनाके प्रवाहके लिए साधन प्राप्त करनेमें बहुत सावधानी रखनी होगी: निश्चित रूपसे अलग तह वाली जातियोंमें विभिन्न समूहोंके बीच कोई सरल अन्तः संचार नहीं है। इसका परिणाम सामान्य जनताकी मांगोंके प्रति प्रत्येक

समूहकी स्थिरता और अगम्यता है। यदि एक कार्य-सम्बन्धी संगठन ग्रहण कर लिया जाए तो स्वतंत्र और निर्भय आलोचनाको उत्साहित करना और भी आवश्यक हो जाएगा, जिसका उद्देश्य अन्तः संचारके साधनोंको बिल्कुल ठीक करना और सबसे अधिक अलग तहोंको रोकना होगा। यह काम एक ऐसे संगठनके बनानेसे होगा जिसमें विभिन्न कार्य-सम्बन्धी संगठनोंके सदस्य होंगे और वह उन रूचियोंका प्रतिनिधित्व करेगा जो सर्व साधारण होंगी। इससे यह परिणाम होगा कि प्रत्येक समूह या मंडलीमें जहां तक इसके अपने मामलोंका सम्बन्ध है, मत-शिक्षण होगा, और प्रत्येक समूहके सदस्योंमें सामान्य संगठनकी उपस्थितिके कारण वहां एक समूहसे दूसरेमें विचारोंकी उलट-फेर होगी और यह सामान्य विषयों पर भी व्युत्पन्न जनमतको सम्भव कर देगा। कुछ हद तक गिल्ड समाजवादियोंके द्वारा इसी प्रकारका संगठन विचारा गया है, परन्तु, पिछला सिद्धान्त माना जाए या नहीं, यह अब सामान्यतया माना जा रहा है कि विचार की जानेवाली समस्याओंकी संख्या और जटिलताको घटानेके लिए, मान लो संसदके द्वारा, कार्य विभाजन की आवश्यकता है।

अध्याय ११

संगठन और प्रजातन्त्र का मनोविज्ञान

जातिके अन्दर व्यक्तियोंके सम्बन्ध असंख्य प्रकारके हैं। उनमेंसे बहुतसे इतनी सूक्ष्मता और कोमलतासे गुंथे हुए हैं कि वह व्यवस्था या नियमोंके अन्दर आनेसे बच जाते हैं, परन्तु उनमेंसे बहुतसे अपने स्थायी अस्तित्वके लिये स्पष्ट संगठनपर आश्रित हैं। संगठनका सार उन व्यक्तियोंकी क्रियाओं की अनुकूलता और एकीकरण है, जिन्होंने एक साधारण उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये एक मंडल बनाया है। अतः संगठनोंको उन मंडलोंके प्रयोजनों या उद्देश्योंके सम्बन्धमें ही केवल समझा जा सकता है, जिनके लिये उनका अस्तित्व है, तथा जिनकी सिद्धिके लिए चेतन या अचेतन रूपसे वह प्रयास करते हैं। यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि यद्यपि सभाएं साधारण रुचियोंपर आश्रित रहती हैं, इन रुचियोंको उनके सब सदस्य न तो स्पष्टतया विचारते हैं और न वह पूर्वेच्छित होती हैं। कुछ मंडलोंमें मनुष्य पैदा होते हैं। दूसरोंमें वह जन-संकेत या वक्ताकी प्रतिष्ठाके कारण आकृष्ट हो जाते हैं। उनमेंसे बहुतसे उन प्रयोजनोंके लिए हैं जिनको कभी भी किसीने स्पष्टतया नहीं सोचा। उनमें विरोधी तत्व होते हैं और बल्कि चेतन इच्छा के उदाहरणोंकी अपेक्षा प्रयत्न और भूलके प्रयोगोंकी प्रकृतिके होते हैं। फिर भी मूलप्रवृतिपर बहुतसे प्राथमिक मंडल आश्रित हैं अर्थात् सदस्योंका अन्योन्याश्रय तथा सहकारिता सामाजिक मूलप्रवृत्तियोंके साधनत्व (instrumentality) के द्वारा प्राप्त होती है। जैसे बुद्धि विकसित होती जाती है, मंडलोंके प्रयोजन चेतन रूपसे सिद्ध और प्रयत्नपूर्वक किये जाने लगते हैं। सब स्थितियोंमें अन्योन्याश्रय इस कारण है कि सारे अंग साधारण उद्देश्य प्राप्तिकी खोजमें हैं, परन्तु प्रारम्भिक भागोंमें, उद्देश्य चेतन रूपसे विचारा हुआ नहीं है और सदस्योंके कार्य यद्यपि प्रयोजनके हैं, परन्त प्रयोजनमय

नहीं, जबकि उच्च आकारोंमें उद्देश्य या प्रयोजन सबके या अधिकांश सदस्यों के द्वारा स्पष्टतया विचारा जाने लगता है।

मंडलोंके उन्नत प्रकारोंमें भी मूलप्रवृत्तिशील आधार रहता है, परन्तु यह अनुभव और रूढ़ि और अनुभवके ऊपरी निर्माणके द्वारा बहुत रूपान्तरित हो जाता है। नेतृत्व और नेताका अनुसरण करनेकी मूलप्रवृत्तियां समुदाय मूलप्रवृत्ति, और सामान्यतया सामाजिक प्रवृत्तियां, सामाजिक संगठनोंमें कार्य करती हैं और शक्तिशाली स्थायी भावोंका केन्द्र बनाती हैं जिनके उद्देश्य अनेक सामाजिक समुदाय होते हैं। पहले प्रयत्न और भूल, पीछे चेतन विचारके द्वारा सदस्योंके बीच श्रम विभाजन और सहकारिताकी निश्चित सम्बन्ध-विधियां स्थापित हो जाती हैं, और उनमें सामाजिक प्रतिष्ठा तथा अधिकार आ जाता है। इस प्रकार ऐसे नियम और संस्थाएं बन जाती हैं जो मंडलके अन्दर व्यक्तियोंके नियमानुसार सम्बन्धोंको प्रदर्शित करतीं और अपनेको बनाए रखनेके लिए तथा सदस्योंकी अनुरूप सहकारिताके साधनों को प्राप्त करनेके लिए मंडलके प्रयत्नका समावेश करती हैं। यह अवश्य मानना चाहिए कि प्रायः अनुरूपता और एकताकी ओर प्रयत्न काफ़ी निर्बल होता है, और प्रायः इसकी सिद्धिके साधन इसके बहुतसे सदस्योंकी व्यक्तिगत भावनाको कुचलनेमें मिलते हैं। दूसरे शब्दोंमें, जिस एकताकी इच्छा की जाती है वह आधीनता और अन्तरोंको छोड़ देनेकी है, न कि एक स्पष्ट पद्धतिकी। दूसरे, सामाजिक संगठनोंके अस्तित्वके प्रयोजनको सोचनेका प्रयत्न विकासके केवल अन्तिम भागोंमें किया जाता है, और तब भी यह सन्देहजनक है कि इस प्रकार जान-बूझकर सिद्धान्त बनानेका वास्तविक और निर्दिष्ट प्रभाव कितना होता है, और क्या बड़े और जटिल समाजोंमें हम प्रयत्न और भूलकी अवस्थाके आगे बढ़ गये हैं।

जिन संगठनोंमें कुछ स्थिरता होती है, वह सब अभ्यास और संकेत प्रणालीका, यद्यपि भिन्न मात्रामें, प्रयोग करते हैं, वह सामूहिक ऐच्छिक क्रिया नहीं, तो सामूहिक क्रिया प्राप्त करनेके बहुत प्रबल साधन हैं। यह बात सेना जैसे संगठनोंमें अधिक स्पष्ट है क्योंकि सेनाकी कवायदकी योजना आज्ञाके प्रति तात्कालिक और बिना सोचे प्रतिक्रिया करनेकी आदत डालनेके लिए और प्रत्येक सैनिककी अपने अफ़सरोंके प्रति संकेत योग्यता और प्रतिक्रिया

बढ़ानेके लिए होती है। परन्तु आदत और संकेत अधिक जटिल समाजोंमें भी और जितना साधारणतया समझा जाता है उससे कहीं अधिक क्रियाशील हैं। सम्पूर्ण शिक्षाप्रणालीकी योजना भावना, विचार और क्रियाकी कुछ आदतोंको डालनेके लिए बनाई गई हैं। रूढ़ि पिछली पीढ़ियोंके आचारों या आदतोंको दूसरी पोढ़ियोंको देतीं और उनको प्रतिष्ठायुक्त कर देती है। अतः सामाजिक संगठनमें आदत आचारकी निरन्तरताकी एक प्रधान अवस्था है, और अतः एक बहुत महत्वशाली स्थितिपालक शक्ति है। यह वह सम्बन्ध है जिसमें "सामाजिक आदतें" वाक्यांश कभी-कभी प्रयुक्त होता है। संकेत समाजमें प्रचलित उन क्रियाविधियोंकी ओर है जिन्हें व्यक्ति बहुत कम चेतनाके साथ केवल समय-समय पर होनेवाली पुनरावृत्तिके बल पर और मौलिक रूपसे दूसरोंके उकसानेपर करते हैं। ऐसी सामाजिक आदतें, जातीय अनुभवके द्वारा लाभप्रद सिद्ध व्यवहार विधियोंकी सुरक्षाके लिए सहायक होनेके कारण महत्वशाली हैं, और उनके महत्वका यह भी कारण है कि, अन्य सब आदतोंकी भांति वह कार्यको सरल बनातीं, थकानको न्यूनतम करतीं और प्रयत्नका अपव्यय कराती हैं, तथा इस प्रकार उन उच्चतर कार्यप्रणालियोंके लिए जिनमें अधिक अवधानकी आवश्यकता है हमारी उच्चतर शक्तियोंको अवकाश मिल जाता है। इस प्रकार यह आवश्यक नहीं आदत दक्षता और उत्तरदायित्वकी शत्रु है, वरन् सैद्धान्तिक रूपसे इसे ऐसा होनेकी आवश्यकता नहीं है। कुछ भी हो, वास्तवमें यह प्रायः "मनुष्य जीवनकी भ्रमण गाड़ी" की भांति क्रियाशील होती है और बहुत-सी संस्थाओं तथा विचार-विधियोंको, जिन्होंने बहुत कालसे अपना वास्तविक अर्थ और कार्य खो दिया है, जीवित रखनेमें सहायक होती है।

"महान् समाज" में संकेत प्रणाली भी निरन्तर तथा बढ़ते हुए रूपमें प्रयुक्त हो रही है। विज्ञापन और प्रचार समान्यतया शक्तिशाली संवेगशील धारणाओं और मूलप्रवृत्तियोंको जान-बूझकर अपील करते हैं, जिनकी जागृति विरोधी विचारोंको रोकती है और अतः आलोचना शक्तिको निम्न स्तरपर पहुंचा देती है। फिर निरन्तर पुनरावृत्तिके कारण, उनमें एक भारी सामूहिक प्रभाव है जैसे अपनी जनताओंके मनों और स्थायीभावोंको ढालना, और जो कदाचित अधिक खतरनाक हैं अपने शिकारोंमें सक्षमतया यह मांथा

जाल फैला देना कि वह वास्तवमें बने बनाये मतको नहीं ग्रहण कर रहे हैं वरन् अपने आप विचार कर रहे हैं! समूह रचना और सामान्यतया सामाजिक संगठनमें एक दूसरी विशेष बात है, उन स्थायीभावोंका विकास जिनके उद्देश्य या केन्द्र समाज या समूहके नेता या सम्पूर्ण समाज या समूह तक हैं। विशेषकर समूह-भावनामें संग्रहीत स्थायीभाव बहुत महत्व का है। दीर्घकालीन सम्पर्क और मित्र भाव, साधारण आपत्तियों और कठिनाइयोंका एक साथ सहना, साधारण रूढ़ियों और व्यवहारकी साधारण विधियोंका विकास, सब मंडल या समूहको ऐसे अनेकों संवेगशील स्वभावों का केन्द्र तथा राजभक्तिके स्थायीभावका उद्देश्य बनानेमें सहायक होते हैं, परिणाम यह होता है कि व्यक्तिगत सदस्य मंडलके सम्मानों और प्रतिष्ठा के विषयमें कुछ संवेगशील उत्साहके साथ विचारने लगते हैं और अपनेको उससे सम्बद्ध मानने लगते हैं। जहां तक मुझे मालूम है इसका और इसके समान स्थायीभावोंके विकासके इतिहासका विस्तारसे अध्ययन नहीं किया गया है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह समूह विज्ञान की जड़ पर है।

नेतृत्वका मनोविज्ञान और नेताओं तथा अनुसरणकर्ताओंके बीच आत्मिक सम्बन्धकी भी बहुत अवहेलना हुई है और वैज्ञानिक खोजोंका ध्यान अभी इस ओर जाना शुरू हुआ है। विशेषकर प्रभुत्व (authority) के आत्मिक आधारके सम्पूर्ण प्रश्नका जैसा कि अबतक रहा है उससे अधिक विस्तारसे अध्ययन करना होगा। यह सम्भव है कि मनोविश्लेषणका विज्ञान सामाजिक मनोविज्ञानके इसपर और समान समस्याओंपर प्रकाश डालेगा।

सर मार्टिन कॉन्वेने एक हालकी पुस्तकमें नेताओंका एक उपयोगी वर्गीकरण किया है: वह तीन प्रकारके नेताओंको पृथक् करते हैं जिनको वह कहते हैं भीड़के विवश करनेवाले, भीड़के व्याख्याता (exponent) और भीड़ के प्रतिनिधि। पहले वर्गमें नेपोलियन, सिकन्दर, जैसे लोग आते हैं, वह मनुष्य जो एक महान् विचारको सोच-समझ सकते, इसे कार्य रूपमें परिणत करने वाली बड़ी भीड़को ढालते, और इसे करनेके लिए भीड़को बाध्य करते हैं, वह मनुष्य जो अपना अनुसरण करनेवालोंपर अपनी छाप लगा देते हैं। दूसरी श्रेणीके नेता अर्थात् भीड़-व्याख्याता वह मनुष्य हैं जिनमें प्रकृतिकी विचित्र सहानुभूतिप्रद अन्तर्दृष्टि और शीघ्रबोध है, जो भीड़की भांति

अनुभव करनेमें समर्थ हैं, जो संवेगका स्पष्ट और जोरदार प्रदर्शन कर सकते हैं, और जो उन बातोंको स्पष्ट कर सकते हैं जिन्हें जनता स्पष्टतया अनुभव करती है। उदाहरणके लिए सर मार्टिन कॉन्वे ग्लैड्स्टनके विषयमें बेजहॉटका दिया हुआ वर्णन देते हैं, "ग्लैड्स्टनकी अपेक्षा कोई भी अपने श्रोतागणोंकी उमंगोंका आधा मार्गदर्शन और आधा अनुसरण अधिक सरलता और शीघ्रतासे नहीं कर सकता। उसके ढंगमें थोड़ा-सा खिलवाड़ है जो उसके प्रिय शीर्षकोंके रूखेपन और उसके सच्चे चरित्रकी अत्यधिक गम्भीरताका विरोधी है। वह अपने श्रोतागणोंसे भापकी भांति प्रस्तावना लेता और उनपर बाढ़की भांति अपने निर्णय उंडेल देना है। वह श्रोतागणोंके विभिन्न समूहोंसे विभिन्न प्रस्तावनाएं लेता है," सर मार्टिन कॉन्वे स्वयं लॉयड जॉर्जका उदाहरण देते हैं। "वह लोकप्रिय प्रवृत्तियोंका दर्शनीय और श्रवणीय अवतार है। जिस प्रकार एक बैरोमीटर वायुमंडल सम्बन्धी दबाव (pressure) के परिवर्त्तनोंसे सचेत (sensitive) होकर प्रतिक्रिया करता है, उसी प्रकार इनके (लॉयड जॉर्जके) संवेग भीड़के संवेगोंके साथ चेतना सहित प्रतिक्रिया करते हैं। इन्होंने व्यक्तिगत मस्तिष्क या स्वतन्त्र विचारका कभी चिह्नतक प्रदर्शित नहीं किया। इन्होंने राजनीतिक विचारों के संयममें कुछ नहीं जोड़ा परन्तु भीड़के उन विचारोंको पूर्णतया फैलाया, जिनके द्वारा वह (लॉयड जॉर्ज) कार्य करते और जिनमेंसे वह अपने संवेगोंको और शक्तिको प्राप्त करते हैं" ("The Crowd in Peace and War", P. 107)।

तीसरी श्रेणीमें भीड़ प्रतिनिधि होते हैं, जो कि भीड़के ज्ञात और निश्चित मतको केवल प्रदर्शित करते हैं, और जो व्यवस्था-बद्ध (constitutional) राजाओंकी भांति उन दशाओंसे परिमित हैं जो उन्हें यदि अपनी स्वतन्त्र राय हो तो उसे प्रकाशित करनेसे रोकती हैं। ऐसा साहित्य अथाह है जिसमें नेतृत्वकी मशीनरी और संविधान, संसद् राजनीतिक दलबन्दी, प्रेस आदिकी कार्यशैलीका वर्णन है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रो० ग्राहम वालेसके अतिरिक्त इन विषयोंकी किसीने भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ भी वैज्ञानिक रूपमें अध्ययन किया है। यह कहना सुरक्षित है कि सर्वोत्तम वर्णन व्यावसायिक (professional) मनोवैज्ञानिकोंके द्वारा

नहीं वरन् मनुष्य जीवनके शिक्षित निरीक्षकोंके द्वारा किया गया है जिन्होंने इस विषयका अध्ययन मानुषिक खोजके अन्य क्षेत्रोंके दृष्टिकोणसे किया है। अब प्रजातान्त्रिक संस्थाओंकी सफलताके सम्बन्धमें स्पष्टताकी बड़ी प्रचलित भावना है और जो निर्बलताकी बातें उसमें प्रदर्शित की गई हैं वह चरित्रमें अवश्य मनोवैज्ञानिक हैं। वह बातें निम्नलिखित शीर्षकोंके अन्तर्गत संग्रहीत की जा सकती हैं।

१. अल्पजन शासन (oligarchy) के प्रति सब संगठनोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति।

२. जटिल रुचियोंके लिए प्रतिनिधित्वकी एक उचित पद्धति प्राप्त करनेकी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयां।

३. लोगोंकी अज्ञानता और भ्रान्तिके कारण तथा मत बदलनेके लिए समितियोंके अस्तित्वके कारण प्रतिनिधि पद्धतिकी असफलता।

४. बड़ी सभाओंमें प्रभावशाली सामूहिक विवेचना प्राप्त करनेमें मनोवैज्ञानिक कठिनाइयां।

१. प्रतिनिधि पद्धतिके विकासके लिए निश्चय ही अच्छे टेकनिकल (technical) और मनोवैज्ञानिक कारण हैं।* मंडलोंका इतिहास, चाहे ट्रेड यूनियन, राजनीतिक दल या राज्य हों, यह दिखाता है कि बड़े परिमाणमें प्रत्यक्ष(direct) सरकार असम्भव है। मनुष्योंके बड़े समूह, जबकि छोटी समस्याओंका प्रश्न है तब भी प्रभावपूर्वक रूपमें सम्मति नहीं ले सकते। और कार्योंकी बढ़ती हुई जटिलता तथा निर्णयोंके महत्वके साथ, वह भारी तथा प्रभावरहित हो जाते हैं। फिर प्रत्यक्ष सरकारका बहुत दुष्प्रयोग हो सकता है। बड़ी व्यवस्थापिकाएं बहुत बुरी तरह संकेत योग्य होती हैं और प्रजानायक (demagogue) तथा वक्ता, और असावधान (unscrupulous) तथा लालसा रखनेवालेका तैयार शिकार रहती हैं। फिर जहां प्रत्यक्ष सरकार होती भी है, वहां व्यवस्थापिकाओंके अन्तरालमें उत्पन्न होने वाली समस्याओंपर विचार करनेके लिए किसी अधिकारीकी आवश्यकता

---

* इस भागके सम्बन्धमें देखिये R. Michels, "Les Partis Politiques".

होती है और अनुभव दिखाता है कि जिन अधिकारियोंको यह कार्य दिया जाता है वास्तविक शक्तिको वही कार्यान्वित करने लगते हैं। प्रत्यक्ष सरकारकी टेकनिकल (technical) कठिनाइयोंके अतिरिक्त नेतृत्व और प्रतिनिधित्वकी ओर कार्य करनेवाले कारण भी हैं। जो शक्तियां एक अनिर्मित ढेरको, संगठनके किसी रूपको ग्रहण करनेके लिए आकृष्ट करती हैं वह सब ही चेतन और प्रयत्नशील नहीं होतीं, वरन् उनकी गहरी जड़ अचेतन और मूलप्रवृत्तिमें होती हैं। अधिकांश व्यक्ति अनुसरण और अधिकारियोंका आज्ञापालन करनेके लिए बहुत उत्सुक रहते हैं, जैसाकि नेताओंके विस्तृत सम्प्रदाय और अधिकारियोंके अधीन होनेकी सार्वलौकिक तत्परतासे स्पष्ट है। इस प्रकार हमें पता चलता है कि थोड़ी भी स्थिरताके सब समाजोंमें नेता उत्पन्न होते और शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। अब, सब संगठनों में चाहे वह पैतृक नेतृत्व पर या प्रतिनिधित्वके आधारपर हों, अल्पजन शासन के प्रति प्रबल प्रवृत्तियां हैं, जिनका कारण सरकारकी टेकनिकल प्रकृति, जिससे हमारा यहां तात्पर्य नहीं है, और कुछ मनोवैज्ञानिक बातें हैं। पिछले कारणको हम तीन शीर्षकोंके अन्दर संग्रहीत कर सकते हैं: (क) लोगोंकी उदासीनता और अनुभवशून्यता तथा नेतृत्वके लिए प्रबल इच्छा; (ख) नेताओंकी शक्ति-पिपासा; (ग) सर्वोत्तम नेताओंका भी आत्मिक रूपान्तर और उनका जनतासे पृथक्त्व।

लोगोंका आलस्य, उदासीनता और अनुभवशून्यता नेतृत्वके लिए उनकी प्रबल इच्छाका कदाचित् विपरीत पक्ष है। सम्भव है यह कुछ हदतक कल्पनाके अभाव और वर्तमान नागरिकोंके सामने आनेवाली जटिल समस्याओंको समझनेकी कठिनाईके कारण है। परन्तु यह पूर्णतया इन परिस्थितियोंके कारण नहीं हो सकते, क्योंकि अनुभवशून्यता तो इससे छोटे समाजोंके भी अधिकांश सदस्योंमें दिखाई पड़ती है जिनका सम्बन्ध उन बातों से है जो साधारण (ordinary) बुद्धिकी पहुंचके अन्दर है। परिणाम यह है कि जनता अपने नेताओंपर अपूर्ण शासन करती है। अतः ऐसी अवस्थाएं हो जाती हैं जो सर्वाधिक सार्वजनिक भावनावाले नेताओंको भी भ्रष्ट कर देती हैं। नेताओंको बहुत जल्दी यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि उनका काम मतदाताओंके मतों और अभिलाषाओंका प्रतिनिधित्व और

प्रदर्शन करना माना जाता है। यथार्थमें, मतदाताओंकी विचारणीय इच्छा या मत नहीं होता। विशेषकर, जटिल समाजोंमें जहां सदस्य शिक्षा और बुद्धिमें बहुत अधिक विभिन्न होते हैं। नेता केवल व्याख्याता (exponent) नहीं हो सकता वरन् उसे मतोंको रूप देनेवाला भी होना चाहिए। अनुकूल परिस्थितियोंमें एक सावधान और आलोचक नियोजकगण (electorate) के होनेपर अवस्थाएं सच्ची सहकारी विवेचनाको सहायक होंगी, परन्तु अधिकांश स्थितियोंमें यह नेताओं या प्रतिनिधियोंको, लोगोंसे जिनके वह प्रतिनिधि माने जाते हैं, क्रमशः परन्तु निरन्तर बढ़ते हुए पृथकत्व, और नेताओंके जनतापर शासन करने तथा उनको अपने विचारों और योजनाओंकी सिद्धिके लिए मूर्खोंकी भांति प्रयोग करनेकी अभिलाषाकी ओर प्रवृत्त करती हैं। सब दलोंमें अधिकांश सदस्य आदत और संकेतके अनुभवरहित जीव होते हैं जो वक्ता और चापलूसोंकी उस जातिसे शासित होते हैं जिसे प्रजानायक कहते हैं। प्रजातन्त्र संगठनकी सबसे विशिष्ट विशेषताओंमेंसे एक है शब्दोंके जादूके प्रति उनकी संकेत योग्यता, जैसा कि वक्ताओं और समाचारपत्र-सम्पादकोंने जितना बड़ा भाग लिया है उससे दिखाई पड़ता है। प्रायः नेतृत्वके लिए विशेषता स्पष्ट तार्किक विचार या व्याख्याकी शक्ति नहीं है, वरन् एक प्रकारकी वाक्चातुरी और एक विषयसे दूसरे विषयपर छलांग मारनेकी शक्ति, भाषण देनेका एक सुगम और प्रत्यक्ष तरीक़ा, उत्तर देनेकी दक्षता है; और इन शक्तियोंसे युक्त मनुष्य नीतिज्ञ होते हैं तथा शक्तिशाली दलोंके बड़ी जल्दी उपकरण बन जाते हैं।

जनताकी अनुभवशून्यता और नेतृत्वके लिए उनकी प्रबल इच्छाके साथ शक्तिके लिए नेताओंकी अतृप्त पिपासा है। कुछ लोगोंमें शासन करनेकी अभिलाषा एक गहरी जड़वाली और शक्तिशाली कामना है। यह बात अधिक महत्व रखती है कि शक्ति मिल जानेसे नेताओंकी मानसिक अवस्थामें एक गहन परिवर्तन आ जाता है। बकुनिन (Bakunin) ने ज़ोर दिया है कि स्वतन्त्रताके महान् प्रेमीको भी शक्तिकी प्राप्ति क्रूर शासक बना देती है। यह कथन बहुधा सच्चे उदाहरणोंसे पुष्ट किया जा चुका है। सबसे पहले नेताको उन सिद्धान्तोंके मूल्यके लिए प्रतीति होनी चाहिए जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। यह हो सकता है कि इन सिद्धान्तोंकी गहन प्रतीतिके द्वारा

और उनकी सिद्धिके लिए सच्चाईसे सहायक होनेकी सम्भावनाके सच्चे विश्वाससे वह नेतृत्व लेनेके लिए आकृष्ट हुआ हो। परन्तु "प्रभुता पाय काहे मद नाहीं"। यह प्रभुता महानता और अपनेको अति आवश्यक समझनेका धोखा उत्पन्न कर देती है, और फलस्वरूप एक बार उपभोग की हुई शक्तिको छोड़नेकी अनिच्छा होती है। यह ध्यान देना है कि श्रमजीवी उद्गमके नेताओंके सम्बन्धमें शक्तिकी लालसा सबसे अधिक तीव्रता प्रदर्शित करती है। वह प्रायः अस्थिर और निरंकुश होते हैं और नवविभवोद्धत (parvenu) की सब विशेषताएं प्रदर्शित करते हैं। अपने परिश्रमसे उन्नति प्राप्त किया हुआ मनुष्य प्रायः घमंडी और चापलूसीसे विचलित हो जानेवाला होता है। सब देशोंके समाजवादके इतिहासमें हम ऐसे मनुष्यों से मिलते हैं जिनकी विशेषता वह मद है जो अर्द्धशिक्षितोंमें होता है, और जिनमें नये धनिककी-सी उल्टी शेखी है, और संसद्के समाजवादी दलोंमें प्रायः श्रमजीवी जातिके उद्गमके व्यक्ति होते हैं जो अचेतन रूपसे "व्यापारी" ("bourgeois") वातावरणके शक्तिशाली प्रभावमें आ जाते हैं, और अन्तमें "शत्रु" के पक्षमें मिल जाते हैं। यह और भी तर्कयुक्त है कि वह नेता जो सच्चाईसे अपनेको सच्चे प्रतिनिधि मानते हैं औरोंकी अपेक्षा उनका क्रूर शासक होना अधिक सम्भव है। क्योंकि उनकी चीजोंको ठीक करनेका उन्मत्त जोश और प्रबल सरकारके लिए लालसा हो सकती है जिसकी औरों में इतनी प्रबलता नहीं होती।

जनताकी अयोग्यता, उसकी अनुभव शून्यता और उदासीनता, नेतृत्व के लिए उसकी प्रबल इच्छा और प्रभुत्व (authority) की पूजाके साथ नेताकी शक्ति और शासन करनेकी अभिलाषा, इस प्रकार सब प्रजातंत्र जातियोंमें अल्पजन-शासनके लिए काम करनेवाली बातें हैं। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या यह प्रवृत्ति प्रजातंत्रमें अवश्य ही सम्मिलित है या केवल इस बातके कारण है कि आजकल सरकार और चुनाव अधिकतर शक्तिशाली आर्थिक दलोंके द्वारा शासित है। माइकेल्स (Michels) ने दिखाया है कि सब समाजवादी दलोंमें वही बातें क्रियाशील हैं और वह मानते हैं कि ऐसे संगठन अल्पजन-शासन (oligarchy) को उपलक्षित करते हैं। दूसरी ओर सिंडिकलिस्ट (syndicalists)

और मार्किष्ट (Marxist) यह सोचते हुए मालूम होते हैं कि सच्चा स्वराज्य "क्रान्ति" के बाद सम्भव होगा। इस विश्वासको न्याय्य ठहराना कठिन है। सरकारका कोई भी केन्द्रीभूत रूप प्रवृत्तिमें अन्यजन शासन सम्बन्धी होना अवश्यम्भावी है।

("Qui dit pouvoir dit domination et toute domination presume l'existence d'une masse dominée")। हमें बताया गया है कि राज्य समाप्त हो जाएगा। परन्तु फिर इसका स्थान कौन लेगा? निश्चय ही या तो कोई बड़ी भारी नौकरशाही (bureaucracy) होगी या किसी प्रकारका प्रतिनिधित्व। परन्तु उस हालतमें एक नया प्रभावशाली अल्पमत अवश्य उठेगा। क्या यह सम्भव नहीं है कि वर्तमान प्रभावशाली जातिका स्थान समानताके वेशमें कार्य करनेवाले प्रजानायकोंका गुप्त अल्पजन-शासन (clandestine oligarchy) सामाजिक क्रान्तिके द्वारा ले लेगा। फिर यह माना जाता है कि अल्पमतके अनन्यशासन (dictatorship) की एक मध्यस्थिति अवश्य आएगी। एक बार पूर्णतया वशमें कर लेनेके बाद क्या अल्पमत अपनी शक्तिको त्यागनेको तैयार होगा? यह सम्भव है कि अनन्यशासकों की मानसिक अवस्थामें उपरोक्त मनोवैज्ञानिक परिवर्तन भी होंगे। रूसी क्रान्तिके उदाहरणसे यह प्रमाणित मालूम होता है। "यह मानना नितान्त मूर्खता है कि सोवियट रूस जैसे महान् साम्राज्यके शासकोंका, शक्तिके आदी हो जाने पर भी श्रमजीवियों जैसा मनोविज्ञान रहेगा और वह इस बातका अनुभव करेंगे कि उनकी जातिकी रुचियां वहीं हैं जो साधारण श्रमजीवि की। रूसमें अब यह बात नहीं है, यह दूसरी बात है कि सत्यको सुन्दर शब्दोंके द्वारा छिपाया जाए। सरकारमें एक जातीय चेतना और जातीय रुचि है जो श्रमजीवियोंसे बिल्कुल अलग है, जिसका कि मार्क्सिस्ट योजनाकी काग़ज़ी श्रमजीवी जातिसे मिलाना नहीं चाहिए" ("Theory and Practice of Bolshevism", p. 155).

२. आलोचनाकी दूसरी श्रेणीका सम्बन्ध कार्यशील प्रतिनिधित्वके सिद्धान्तसे है, विशेषकर उससे जो जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) के द्वारा कार्यान्वित हुआ है। उस सिद्धान्तके अनुसार किसी एक

व्यक्तिके लिए दूसरे व्यक्तियोंकी सम्पूर्ण इच्छा या व्यक्तित्वका प्रतिनिधित्व करना या स्थानापन्नकी भांति कार्य करना असम्भव है, यद्यपि यह सम्भव और निश्चय ही बांछनीय भी है कि विशेष प्रयोजनोंके प्रतिनिधि हों। व्यक्ति चेतना और इच्छाका केन्द्र है, जो (इच्छा) कि इस प्रकार तुलना और संचारके योग्य नहीं है और व्यक्तिमें आत्म निश्चयकी वह शक्ति इसमें है जिसे वह कभी नहीं छोड़ सकता। विशिष्ट उद्देश्य पर लक्ष्य करनेवाले मंडलोंमें प्रतिनिधित्व इसके सदस्योंके व्यक्तित्वके किसी खंडनको उपलक्षित नहीं करता, परन्तु प्रतिनिधि सरकारकी एक पद्धति जो कि इस विचार पर आश्रित है कि व्यक्तियोंका सम्पूर्णकी भांति प्रतिनिधित्व हो सकता है, व्यक्तिगत भलाईके लिए केवल विनाशकारी ही नहीं वरन् लगभग असम्भव है। 'वह प्रयोजन जिनके लिए प्रतिनिधि चुने गए हैं, जिस मात्रामें स्पष्टता और निश्चयको खो देते हैं, उसी मात्रामें प्रतिनिधित्व मिथ्या-प्रतिनिधित्व में बदल जाता है और मंडलके कारण होनेवाले कार्योंकी प्रतिनिधि-प्रकृति विनष्ट हो जाती है। अतः आज उस अनन्ययोग्य कही जानेवाली 'प्रति-निधि' संस्था—संसद्—में और मंत्रिमंडलमें जो कि इस पर आश्रित माना जाता है, सबसे बुरा मिथ्या-प्रतिनिधित्व (misrepresentation) दिखाई पड़ता है। पार्लियामेंट सब नागरिकोंका, सब चीज़ोंमें प्रतिनिधित्व करनेका बहाना करती है, और अतः किसीका किसी भी चीज़में प्रतिनिधित्व नहीं करती। इस बातकी बिना अपेक्षा किए ही कि जो विभिन्न बातें सामने आती रहती हैं उन पर व्यवहार करनेके लिए विभिन्न प्रकारके व्यक्तियोंकी आवश्यकता होती है यह उन पर ही कार्य करनेके लिए चुनी जाती है। अतः यह भ्रष्ट और विशेषकर धनिकोंके प्रभावोंके विचित्र प्रकारसे अधीन है तथा प्रत्येक कार्यको इसलिए बुरी तरह करती है कि यह किसी भी काम को अच्छी तरह करनेके लिए नहीं चुनी गई थी" ("Social Theory", p. 108).

३. जो समस्याएं संसद् जैसी संस्थाके सामने आती हैं उनकी जटिलता का उत्तरदायित्व एक बार चुन लिए जाने पर अपने मतदाताओंके मिथ्या-प्रतिनिधित्वके लिए ही केवल नहीं है वरन् कुछ हद तक चुनावोंकी विचित्र भूलोंके लिए भी है। बहुत हद तक उस जटिलताके कारण जिसमें प्रेरक

इस प्रकार मिश्रित हो जाते हैं और रुचियां ऐसी गड़बड़ा जाती हैं कि वास्तविक प्रतिनिधित्व असम्भव हो जाता है और जो व्यक्ति चुने जाते हैं उनकी सफलताका कारण अधिकतर वह एक या अधिक प्रश्न हैं जिनमें संवेगशील और मूलप्रावृत्तिक अपीलकी शक्ति है। प्रतिनिधिके लिए यह कहना कि वह **साधारण** इच्छाको प्रकाशित करता है, अधिकांश स्थितियों में बिल्कुल ग़लत है, क्योंकि मतदाताओंको उत्तेजित करनेवाले प्रेरक बहुत मिश्रित, भिन्न और यहां तक कि परस्पर विरोधी भी होते हैं। इन कठिनाइयोंमें, जनताकी राजनीतिक अज्ञानता, उनकी नासमझी और स्थिर तथा संयुक्त संकेतके लिए एक बहुत विकसित यंत्रको जोड़ो तो चुनावकी लहरें समझमें आ जाएंगी। श्री एच० जी० वेल्स कहते हैं कि "हमारे यहां ग्रेट ब्रिटेनमें अब चुनाव बिल्कुल नहीं होते अब अस्वीकृति (rejections) होती हैं। वास्तवमें एक सामान्य चुनावमें क्या होता है कि राजनीतिक दल संगठन—बिल्कुल रहस्यमय धनके साथ गुप्त और छिपे हुए मंडल—लगभग १,२०० आदमियोंको हमारे शासक बनानेके लिए चुनते हैं, और हम लोगोंको जो कि स्वशासित कहलाते हैं, केवल इतना करनेकी अनुमति है कि एक गड़बड़ क्रोधित तरीक़ेमें इन चुने हुए महानुभावोंमें से लगभग आधे नामोंको काट दें*"।

४. अन्तमें, बड़ी परिषदोंकी कार्यशैलीमें मनोवैज्ञानिक कठिनाइयां हैं, जो वास्तविक या प्रभावशाली सामूहिक विवेचनाको असम्भव बना देती हैं और परिणाम यह होता है कि अधिकांश प्रजातंत्र शासनोंमें भी शक्ति बहुत थोड़े-से व्यक्तियोंमें आकर इकट्ठा हो जाती है। इस सम्बन्धमें मैक्ड्यूगल की ब्रिटिश पार्लियामेंटके गुणगानकी राजनीतिक जीवनके निकट निरीक्षक प्रो० ग्राहम वालेस, या ऑस्ट्रोगोर्की (Astrogorky) या एच० जी० वेल्स की राय से तुलना करना बड़ा रोचक है। डा० मैक्ड्यूगल पार्लियामेंटकी कार्यप्रणालीको एक दृष्टान्त योग्य सच्ची सामूहिक विवेचना और इच्छाका कार्य मानते हैं। प्रतिनिधि ऐसे व्यक्ति होते हैं "जिनमें आचार और रुढ़ि प्राकृतिक नेताओंको प्रथमता (precedence) देते हैं,

---

* Quoted, Lippmann, Preface to Politics, P. 291

वह सबसे योग्य हैं तथा उनकी चेतनामें भूत, वर्तमान और भविष्यका राष्ट्र सबसे उचित रूपसे प्रतिबिम्बित है।" फिर राजनीतिक दलबन्दी और प्रेस निश्चित करते हैं "कठिन आलोचना और रुढ़ि सम्बन्धी आचार विधियोंकी उस पद्धतिके अन्दर सब प्रस्तावों पर पूर्ण विवाद, जो ऐसे विवादोंकी व्यवस्थाके लिए ही बनी है" ("The Group Mind", p. 190)। व्यक्ति आश्चर्य करता है कि क्या यह मत मनोवैज्ञानिक निरीक्षणसे अधिकृत है या सामान्य राजनीतिक अनुमानों और पक्षपात पर आश्रित है। इसके साथ प्रो० ग्राहम वालेस और इंगलैंडके तथा बाहरके भी अन्य निरीक्षकोंके विचारसे इसका विरोध किया जा सकता है। यह लोग संसद्के प्रत्यक्ष कार्योंकी नितान्त निरर्थकता, वहांकी चालू बौद्धिक शिथिलता, तथा वास्तविक संगठित विवादके अभावसे प्रभावित हैं। निश्चय ही यदि राष्ट्रीय विवेचना और राष्ट्रीय इच्छा कार्यका अर्थ है उन लोगोंकी विवेचना और इच्छा क्रिया जिनमें "राष्ट्रका विचार" सर्वोत्तम रूपसे प्रतिबिम्बित है और यदि "सर्वोत्तम" लोग स्वयं यह निश्चय करें कि वह राष्ट्रके विचारको सर्वोत्तम प्रकारसे प्रतिबिम्बित करते हैं तब डा० मैक्ड्यूगल निस्सन्देह ठीक हैं। परन्तु "राष्ट्रका विचार" एक बहुत अस्पष्ट वाक्यांश है, और राष्ट्रीय लाभका अर्थ प्रयोगमें प्रायः होता है राष्ट्र के "सर्वोत्तम" अंगका लाभ। बाह्य निरीक्षक अवश्य विचारके वास्तविक एकीकरण (integration) से तथा उस ज्ञानयुक्त और शिक्षित आलोचनाके उत्तरदायित्वके प्रभावसे जो संसद्के वादविवादोंकी विशेषता दिखाता है, प्रभावित होगा। यह प्रभाव वास्तविक विजयके लिए और जहां तक लौकिक इच्छाका पता लग सकता है उसकी चेतन प्रतिकूलताके लिए नहीं वरन् बड़ी परिषदोंमें जो कि निरन्तर बढ़ती हुई जटिलताके विषयों पर विचार करती हैं, उनकी यथार्थ मनोवैज्ञानिक कठिनाइयोंके लिए है। विशेषकर इन मनोवैज्ञानिक कठिनाइयोंके सम्बन्धमें मनोवैज्ञानिक सहायक हो सकते हैं। सामान्यतया उपरोक्त विवादमें यह परिणाम निकलता है कि पुनर्निर्माणकी कोई भी नीति जिसको वास्तविक मूल्यका होना है उसको श्रमविभाजन और स्थानिक अधिकार प्रदान (decentralization) पर इस दृष्टिसे लक्ष्य करना चाहिए, कि किसी भी परीषद्में आई

हुई समस्याओंको अधिक निश्चित और कम जटिल बनाना है और सबसे अधिक इसे इस बातके लिए बनना चाहिए कि राष्ट्रको अधिक शिक्षित, कम अनुभव शून्य, कम संकेत योग्य, बाहरसे आरोपित अधिकारको कम वशीभूत, स्वतंत्र और निर्भय विचारके लिए अधिक योग्य तथा विस्तृत रुचियोंके द्वारा उत्तेजित होनेवाला राष्ट्र बनना है।

उपसंहार

अन्तमें हमारे विवादकी विशेष बातों पर जोर देना अच्छा होगा। पहले तो हमने यह तर्क किया कि समाज या जातिको असंख्य प्रकारसे एक दूसरेसे सम्बद्ध व्यक्तियोंका एक जाल, और चरित्र तथा जटिलतामें बहुत विभिन्नता रखनेवाले सम्पूर्णों या एकताओंको बनानेवालीकी भांति सोचना है। व्यक्तियोंके बीचके कुछ सम्बन्ध संगठनके प्रति ग्रहणशील हैं, और इस प्रकार वह मंडलों और संस्थाओंका आधार बनते हैं; कुछ बहुत सूक्ष्म व्यक्तिगत और कोमल हैं अतः संगठनमें नहीं आते; अन्य कुछ व्यवस्थाके लिए बहुत अस्पष्ट हैं, परन्तु कुछ अंशमें लौकिक आन्दोलनों या प्रवृत्तियोंमें, जनमत आदि प्रदर्शित होते हैं। यह सम्बन्ध मस्तिष्कके शब्दों में ही समझे जा सकते हैं, अर्थात् वह आवेगों, विचारों और प्रयोजनों पर आश्रित रहते हैं। परन्तु वह सम्पूर्ण जो कि सम्बन्धित सदस्योंसे बनता है वह ठीकसे या लाभपूर्वक एक जीवधारी, या मस्तिष्क जो कि जीवधारीके समान, या एक व्यक्तिके मस्तिष्ककी भांति, नहीं समझा जाता। समाजमें व्यक्तियोंके बीचके सम्बन्ध अवश्य ही निकट और आत्मीय होते हैं। जैसा कि हालमें प्रो० मैकाइवर ने बहुत दृढ़ताते कहा है कि सामाजिकता और व्यक्तित्व एक अकेली प्रणाली, व्यक्तित्वके विकास, के केवल दो रूप हैं। फिर भी व्यक्ति सम्बन्धका एक अद्वितीय केन्द्र है, अकेले सम्पूर्णकी भांति आत्म चेतन, उन विभिन्न सामाजिक सम्पूर्णोंसे सम्बद्ध जिनका वह सदस्य है और जिसकी प्रकृति उन सम्पूर्णोंकी सदस्यतासे श्रान्त नहीं होती वह है। यह सत्य है कि यह फिर, किसी प्रकारकी पद्धति बना लेते हैं या हम उनमें पद्धतिके प्रति एक प्रयत्न देखते हैं। परन्तु पहले, यथार्थमें प्राप्त एकता की मात्राकी अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए, और, दूसरे जहां तक वास्तविक एकता है यह प्रयोजनों, विचारों और आदर्शों तथा आध्यात्मिक विषयोंकी एकता है और इसमें प्रणालीकी एकता तथा व्यक्तिगत मस्तिष्क की विशेषता स्वतंत्र निरन्तरता नहीं है।

दूसरे, हमने विवेकके विरुद्ध एक बहुत प्रचलित प्रतिक्रिया और अविवेकका एक प्रकारका सम्प्रदाय तक देखा था। अब बहुत हद तक यह बुद्धिवादके विरुद्ध आन्दोलन विवेकके एक अमूर्त मतके कारण हैं जो कि इसे एक तुलना और सम्बद्ध करनेकी एक केवल और उदासीन तार्किक शक्तिके सदृश कर देता है और विवेक या विवेकमय इच्छा और आवेगके बीच एक मिथ्या पृथक्त्व ला देता है। कुछ भी हो यह स्मरण रखना चाहिए कि बुद्धिवाद- विरोधी आन्दोलनकी शक्ति इस बातमें है कि इसने उन बातों पर ज़ोर दिया है जिसकी प्रायः विवेकवादियोंके द्वारा अवहेलना हुई है और फिर विवेकवादी भी प्रायः बिल्कुल उसी पृथक्करणों (abstractions) के दोषी हैं जिसके दोषी बुद्धिवाद-विरोधी हैं। हमने यह दृष्टिकोण रखनेकी चेष्टा की है कि सामाजिक संस्थाओंमें विवेकमय और प्रयोजनके तत्व नहीं होते। वह ऐकिक जीवनके प्रति प्रयोग हैं और अनुरूप विकासकी अवस्थाओंको ढूंढनेके लिए मनुष्य जातिके नियामक (co-ordinated) और न्यूनाधिक ज्ञानयुक्त प्रयत्नोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु अधिकांशमें वह मुश्किलसे प्रयत्न और भूलकी अवस्था तक पहुंचे हैं, और निश्चय ही वह प्रयोजनोंकी संगठित पद्धतियोंका समावेश करनेवाली स्पष्टतया सोची हुई जीवनकी योजनाओं पर आश्रित नहीं हैं। कुछ भी हो, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि विवेकका भाग आवश्यक नहीं है। बल्कि इसके विरुद्ध, यदि विवेकसे हम समझें आवेगोंके अन्दर और उनके द्वारा कार्यान्वित एक नियम, जो उनको उद्देश्य और लक्ष्यकी एकता दे रहा है, तब विवेक सम्पूर्ण सामाजिक प्रणालीका जीवन है। कुछ भी हो, हमारे वर्णनसे यह पता चलता है कि हम जो चाहते हैं वह रहस्यमय आवेगों पर अन्धविश्वास नहीं है, वह कम विवेक नहीं अधिक विवेक है, अधिक समझ है अर्थात् उन अवस्थाओंका जिनमें आवेगोंको एक साथ काम करना होगा, जिससे समाजके अन्दर व्यक्तित्वका अनुरूप विकास हो सके।